

सहजानन्द शास्त्रमाला

## मोक्षशास्त्र प्रवचन

### पंचम भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिग्म्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

## प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक 'मोक्षशास्त्र प्रवचन पंचम भाग' अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। इसमें मोक्षशास्त्र प्रवचन के सूत्र 9 के प्रवचन संकलित हैं।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishastra.org/> वेबसाइट पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित करना चाहता है, तो वह यह कंप्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे। इसी ग्रन्थ की PDF फाइल <http://is.gd/varniji> पर प्राप्त की जा सकती है।

इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हौरालाल दिग्म्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु डॉ. उदयजी मेहता सीएटल अमेरिका के द्वारा रु. 1500/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती मनोरमाजी राहिंज, गांधीनगर एवं प्रूफिंग करने हेतु श्रीमती मनोरमाजी जैन, गांधीनगर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छावड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

[Email-vikasnd@gmail.com](mailto>Email-vikasnd@gmail.com)

[www.jainkosh.org](http://www.jainkosh.org)

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी‘सहजानन्द’ महाराज द्वारा रचित

## आत्मकीर्तन

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आत्मराम॥१॥  
 मैं वह हूँ जो हैं भगवान्, जो मैं हूँ वह हैं भगवान्।  
 अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान॥  
 मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।  
 किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान॥  
 सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूप दुःख की खान।  
 निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान॥  
 जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।  
 राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम॥  
 होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।  
 दूर हटो परकृत परिणाम, ‘सहजानन्द’ रहूँ अभिराम॥  
 अहिंसा परमोर्धर्म

## आत्म रमण

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ॥१॥  
 हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।  
 हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन०, मैं सहजानंद०॥२॥  
 हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर मैं मेरा कुछ काम नहीं।  
 पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन०, मैं सहजा०॥३॥  
 आऊं उतरूं रम लूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।  
 निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन०, मैं सहजा०॥४॥

## Contents

प्रकाशकीय.....	2
आत्मकीर्तन.....	3
आत्म रमण .....	3
सूत्र 9.....	5

ॐ

# मोक्षशास्त्र प्रवचन

## पंचम भाग

प्रवक्ता—अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णा “सहजानन्द” महाराज

### सूत्र ९

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् ॥१॥

तत्त्वों के अधिगम के उपायभूत प्रमाण के विवरण का प्रारम्भ—मोक्षशास्त्र का यह ९वां सूत्र है, इसमें अन्वयव्यतिरेकात्मक ज्ञान का परिचय कराया है। ज्ञान ५ प्रकार के हैं—१-मतिज्ञान, २-श्रुतज्ञान, ३-अवधिज्ञान, ४-मनःपर्ययज्ञान और ५-केवलज्ञान। यह सूत्र यहाँ क्यों रखा गया? इसका प्रसंग क्या? तो जैसे बताया था कि मोक्षशास्त्र का प्रथम अध्याय वस्तुस्वरूप ज्ञानने के उपाय का वर्णन करने वाला है। प्रासंगिक बात वर्तमान में तीन चार सूत्रों में कहकर आगे सभी उनके ज्ञानने के उपायों को बताने वाला वर्णन है। कैसे उन तत्त्वों का न्यास होता है। कैसे उनका अधिगम होता है? तो बताया गया था कि प्रमाण और नयों से तत्त्व का ज्ञानना होता है। तो प्रमाण क्या चीज है, उसके विवरण में कुछ सूत्र आयेंगे और अन्त में नय क्या चीज है। इसके वर्णन में सूत्र आयेंगे। इस तरह वस्तु के ज्ञानने का उपाय वर्णन करने में प्रथम अध्याय समाप्त हो गया। उसके बाद उन तत्त्वों का वर्णन चलेगा। यद्यपि सामान्य तौर से ऐसा कह देते हैं कि पहले चार अध्यायों में जीव तत्त्व का वर्णन है, पर जो प्रस्तावित किए गए ७ तत्त्व हैं उनमें जीवतत्त्व का वर्णन द्वितीय अध्याय में शुरू होता है। जहाँ जीव के स्वतत्त्व बताये गए वहाँ पहले अध्याय में तत्त्व के ज्ञानने के जो उपाय बताये गए हैं वह उपाय है ज्ञानात्मक और ज्ञान है आत्मा का तत्त्व। इसलिए प्रथम अध्याय को भी जीवतत्त्व के वर्णन में शामिल कर लिया गया। पर उसमें विश्लेषण करें तो पहला अध्याय तो प्रस्तुपित है अधिगम के उपाय का वर्णन करने में, और दूसरे अध्याय से है प्रस्तावित जी तत्त्व का वर्णन। तो प्रमाण क्या चीज है उसका विवरण किया जा रहा। प्रमाण ज्ञान होता है, अन्य कुछ प्रमाण नहीं होता। वैसे लोक में कहते हैं ऐसा कि कब्जा भी प्रमाण है, गवाह भी प्रमाण है, दस्तावेज भी प्रमाण है। जैसे कागज होता है रजिस्ट्री किया हुआ तो उसे अदालत में पेश कर देते हैं कि तुम्हारे पास क्या प्रमाण है, तो उन्होंने कागज पेश कर दिया कि यह प्रमाण है। सो कई प्रकार से लोग कहते, लेकिन उस कागज का अर्थ क्या? उस कागज में जो लिखा है उससे जो ज्ञान बना वह ज्ञान प्रमाण बना। ज्ञान ही प्रमाण है, अन्य कुछ प्रमाण नहीं होता। और उसका कारण बताया है न्यायशास्त्र में कि हित का लाभ और अहित का परिहार करने में समर्थ चूंकि ज्ञान ही है, अतएव ज्ञान प्रमाण है। और उस ज्ञान की व्याख्या की है—जो स्व और अपूर्व अर्थ का निश्चय करने वाला हो वह कहलाता है प्रमाण अर्थात् ज्ञान। तो प्रमाण का वर्णन, ज्ञान का वर्णन, वह एक ही चीज होती है।

शक्तिव्यक्त्यात्मक ज्ञान की सिद्धि—यहाँ इस सूत्र के कहने से एक और दार्शनिक बात स्पष्ट होती है कि कुछ

लोग मानते हैं कि हाँ ज्ञान ही तत्त्व है। और ऐसा ज्ञान, जो ध्रुव है, अपरिणामी है, सर्वव्यापक है, सर्वरूप है, ऐसा ज्ञानब्रह्म वह ही एक तत्त्व है। उन्होंने ज्ञान की दशा, ज्ञान की पर्याय, ज्ञान की व्यक्ति स्वीकार नहीं की, ऐसे ज्ञानाद्वैती, ब्रह्माद्वैती, सम्वेदनाद्वैती, प्रतिभासाद्वैती आदि अनेक दार्शनिक हैं जो यह स्वीकार करते हैं कि ज्ञान अन्वयरूप ही होता है। अगर सोचा जाये कि जगत में कोई भी तत्त्व ऐसा है क्या जो अन्वयरूप हो? अर्थात् जो केवल द्रव्यमात्र हो, अथवा केवल एक स्वभावमात्र हो। पर्याय कुछ न हो, परिणति कुछ न हो, व्यक्ति कुछ न हो, ऐसा जगत में कोई सत् नहीं होता। जो भी सत् है वह द्रव्यपर्यायात्मक ही होता है। तो अन्वयमात्र सत् नहीं, किन्तु अन्वयव्यतिरेकात्मक सत् होता है। व्यतिरेक मायने पर्याय, अन्वय मायने द्रव्यत्व। देखो उन दार्शनिकों ने काम तो करना चाहा बहुत भला, जिसको जैनशासन भी एक नय से समर्थित करता है। आखिर जब कुछ सोचा, तत्त्व का परिचय किया, बहुतसी बातें जानी तो जानने के बाद अन्त में एक यह प्रश्न हुआ, समस्या आयी कि आखिर अपना हित किसमें है? किसको शरण मानें, कहाँ दृष्टि दें कि हमारा भला हो? जगत में वे दिखने वाले पदार्थ विनाशीक हैं, भिन्न है, मायारूप हैं छाया हैं, इन पर दृष्टि देने से क्या प्रभाव होता है? देखिये प्रथम तो यह उपयोग ही अस्थिर है। विषयवासनाओं से संस्कृत होने से यह उपयोग अस्थिर हो गया और फिर यह उपयोग करे अस्थिर को विषयभूत तो विषय भी अस्थिर, उपयोग भी अस्थिर, ऐसे में गुजारा कैसे चलेगा? तो पहले यह बात निमित्त की कहेंगे, विषय तो स्थिर हों। एक ओर से, तो बेपरवाही हो, कि लो अब विषय क्या है? स्थिर विषय, है, अन्वयरूप विषय है। व्यतिरेक तो सब अस्थिर होता है। अन्वयरूप द्रव्यत्व हैं—इसमें भी अनेक धारणायें चलीं। किसी ने सत् ब्रह्म कहा, पर सत् स्व भी है, पर भी है, अनेक सब कुछ है। तो जानने वाला तो यह उपयोग हो और विषय बने कोई पर तो उसमें भी एक रास्ता नहीं हो सकता। कोई निज का अन्वय होना चाहिए, तो वह मिला क्या? ज्ञानस्वभाव। देखिये आत्मा चाहने वाले को इस सहज निरपेक्ष ज्ञानस्वभाव का शरण गहना चाहिए। इसका आलम्बन, इसका आश्रय, इसकी मग्नता होनी चाहिए। इतने प्रयोजन को देखते हो तो ऐसा लगता है कि उन दार्शनिकों ने बहुत अच्छा सोचा। एक अन्वयमात्र ज्ञान है, ऐसा ही वह ब्रह्म है, लेकिन वस्तु सत् किस प्रकार होता है? उसके लिये स्पष्ट कथन है—“उत्पादव्ययधौव्ययुक्तं सत्” वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक होता है।

प्रतिक्षण पर्याय की अनिवारितता—देखो गुण तो भेद करके कल्पनाओं द्वारा समझा जायेगा, अतएव कोई बहुत ठीक-ठीक जानने को चले तो गुण की तो उपेक्षा की जा सकती है, क्योंकि वहाँ तो स्वभाव को भेदकर स्वभाव में ही भेद डालकर गुण समझा जाता है। जैसे कि आत्मा का स्वभाव है चैतन्य। अब उस चैतन्यस्वरूप को कैसे जानें? तो कहते हैं कि देखो जहाँ ज्ञान है, जहाँ दर्शन है सामान्य प्रतिभास, विशेष प्रतिभास अथवा श्रद्धान है, प्रतीति है, रुचि है अनेक बातें कहकर समझाया जा सकता है। तो गुणों को तो हम स्वभाव के समझने के लिए उन भेदों को समझते हैं, तो एक बार चाहे गुण की बात न कहे, एक अभेदस्वभाव को ही माने तो काम चलेगा। परन्तु पर्याय को न माने तो जैसे स्वभाव न मानने से वस्तु नहीं रहती ऐसे ही पर्याय न मानने से वस्तु नहीं रहती। पर्याय से मतलब यहाँ स्वभाव की तरह एक प्रति समय की अखण्ड पर्याय। पर्याय में भी भेद किया जाता है, तो गुणभेद की तरह भिन्न-भिन्न पर्यायें जानने में आती हैं। जैसे ये मतिज्ञानादिक हैं, ये

क्रोधादिक हैं, अविकारी या विकारी पर्याय ये सब जाने जाते हैं। तो स्वभाव में भेद डालकर जैसे अखण्ड स्वभाव का परिचय हम गुणों द्वारा करते हैं, ऐसे ही पर्याय में भेद डालकर, कुछ भिन्न-भिन्न पर्यायों द्वारा जितने गुण माने समझे हैं उतनी ही उनकी परिणतियां बताकर हम उस अखण्ड पर्याय को समझना चाहते हैं। जैसे वस्तु अखंड है वैसे ही उसकी प्रति समय में कोई न कोई परिणति है वह भी अवक्तव्य है अखंड है, जब जो है तब वह उसे कोई टाल नहीं सकता। कोई परिणति तो होती ही है प्रति समय, अन्यथा द्रव्यत्व न रहेगा। अब वह परिणति वास्तव में कैसी है, इसको बताने के लिए कोई शब्द नहीं है। तो जैसे व्यवहार से हम गुणभेद करके स्वभाव की पहचान। करते हैं ऐसे ही पर्याय देख करके हम एक अखण्ड पर्याय को भी समझते हैं। मतलब यह है कि द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं। अब इसमें से कोई केवल द्रव्य अंश को ही पूर्ण वस्तु मान ले तो वह जैसे एक एकान्त है ऐसे ही कोई पर्यायमात्र को ही पूर्ण वस्तु मान ले तो वह एक एकान्त है। बस द्रव्य और पर्याय इनके ही भूल के विस्तार में अनेक दार्शनिकों की उत्पत्ति हुई है। तो यह सूत्र उस विवाद को सुलझा देता है। ज्ञान केवल अन्वयरूप नहीं, ज्ञान केवल व्यतिरेकरूप नहीं। तो मतिज्ञान स्वतंत्र चीज हो, श्रुतज्ञान स्वतंत्र चीज हो आदिक ये सभी स्वतंत्र हों सो नहीं और ज्ञान इन ५ से रहित मात्र एक अन्वयमात्र जिसकी परिणति नहीं, व्यक्ति नहीं, ऐसा हो, सो भी नहीं, यह ध्वनि निकल रही है मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्—इस सूत्र से।

सूत्र में निश्चयव्यवहारात्मक वर्णन की झलक—देखिये आचार्यदेव की कृतियाँ प्रकृत्या ऐसी बनती हैं कि जिनके समय में चाहे वे आचार्य खुद भी न सोचें कि इसमें हमें कोई मर्म रखना है, मगर जो सुलझा हुआ है, ज्ञानी पुरुष है, उसके वचन ऐसे ही सहज निकलते हैं कि जिसमें अनेक मर्म पड़े हुए हैं। देखो सूत्रों में निश्चय और व्यवहार दोनों की झलक आती जायेगी। जैसे कहा—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। मोक्षमार्ग निश्चयवचन है, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि व्यवहारवचन है। कैसे? एक तो वह बहुवचन है और व्यवहार में बहुत्व होता है और मोक्षमार्गः एकवचन है और एक एकत्वनिश्चय की दृष्टि में आता है। दूसरे ये तीन हैं, यह एक है, निश्चय का विषय एक होता है। व्यवहार के विषय अनेक होते हैं, ऐसे सभी सूत्रों में और जितनी रचनायें हैं प्रत्येक कथनों में, प्रत्येक वाक्यों में केवल निश्चय निश्चय की ही बात न मिलेगी, केवल व्यवहार-व्यवहार की ही बात न मिलेगी। वह रचना ही ऐसी है कि ऐसा ही समन्वित हो जाता है कि वह समन्वय झलक जाये। जैसे तत्त्व ७ बताये—‘जीवाजीवास्त्रवंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।’ तो तत्त्व यह निश्चयवचन है और जीवाजीवादि व्यवहार वचन है, ये बहुवचन में, हैं। ये ७ हैं, तत्त्व एक वचन है, एक है, सामान्य है, तब अर्थ करना चाहिए ये ७ तत्त्व हैं। बहुवचन भी न बोलें कि ये ७ तत्त्व हैं और उनकी प्रयोजकता देखें—भूतार्थनय से अधिगत जो एकता है वह प्रयोजन है, यह स्वयं अपने आप प्रकट होता है। इस सूत्र में भी देखो मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ये ५ हैं। ज्ञानम् एक है, वह बहुवचन है, ज्ञान एक वचन है। ये ५ ज्ञान हैं। तो ज्ञान अन्वयरूप न हो तो ये ५ नहीं हो सकते। ये ५ परिणतियां न हों तो अन्वय वाला ज्ञान नहीं होता।

वस्तु की अन्वयव्यतिरेकात्मकता—एक दृष्टान्त लो, बालक जवान और बूढ़ा और एक मनुष्य, ये चार बातें समझो। तो मनुष्य तो है अन्वयरूप। जितने अंश के लिये दृष्टान्त दिया उतने में घटाना है। यहाँ मनुष्य

अन्वयरूप है और बालक, जवान, बूढ़ा यह व्यतिरेकरूप है। बालक, जवान, बूढ़ा—इन तीन में कुछ न हो, ऐसा कोई मनुष्य कोई सामने ला सकेगा क्या? नहीं ला सकता। और मनुष्य न हो, केवल बालक ला दे, जवान ला दे या बूढ़ा ला दे तो मिल जायेगा क्या? तो जैसे मनुष्य अन्वयरूप है और बालक, जवान, बूढ़ा व्यतिरेकरूप है। बालक, जवान, बूढ़ा इस व्यतिरेक के बिना मनुष्य नहीं और मनुष्य अन्वय के बिना बालक जवान बूढ़ा ऐसा व्यतिरेक न मिलेगा। तो ऐसी समस्त वस्तुओं की बात समझ लीजिए कि जितने भी सत् है, जो भी सत् हैं वे नियम से उत्पादव्ययद्वौव्ययुक्त हैं। इसी को कहा अन्वयव्यतिरेक। व्यतिरेक में आया, उत्पाद, व्यय, अन्वय में आया ध्रौव्य। तो यह निर्णय सबके विषय में करें। व्यतिरेक बिना अन्वय नहीं, अन्वय बिना व्यतिरेक नहीं, लेकिन अपना एक प्रयोजन यह समझना है कि हम व्यतिरेक को सर्वस्व मान लें और व्यतिरेक को ही हम अपना लक्ष्य समझते रहें तो यहाँ हमारा (आत्मा का) गुजारा ठीक न बनेगा। आत्महित की दृष्टि से इस व्यतिरेक को गोण करके अन्वय लक्ष्य में लेना है और अपने आपमें उस शुद्ध अंतस्तत्व को निरखना है। जो न कषाय सहित है, न कषायरहित है।

असाधारण शाश्वत लक्षण से परमार्थ तत्त्व की प्रसिद्धि—देखो लक्ष्य प्रसिद्ध होता है असाधारण लक्षण दृष्टि में आने से। आत्मा का लक्षण न तो कषायसहित है और न कषायरहित है। कषायसहित नहीं है यह तो झट समझ में आ जायेगा कि कषाय औपाधिक है, नैमित्तिक है, परभाव है। भले ही है आत्मा की परिणति, मगर स्वयं ही निमित्त बनकर यह आत्मा अपने में स्वभाव से विकार बनाता हो ऐसा नहीं। यदि ऐसा हो तो वह नित्य कर्ता बन जायेगा विकार का और यह स्थायी भाव हो जायेगा। तो ये कषायें आत्मा की नहीं, अतएव आत्मा कषायसहित नहीं, यह बात शीघ्र समझ में आ जायेगी। मगर आत्मा कषायरहित नहीं, इस बात को समझने में थोड़ा विचार करना होगा। कषायरहित इससे आपने समझा क्या? लक्ष्य में क्या लिया? वस्तु लक्ष्य में आती है विधि द्वारा। जैसे चौकी का क्या स्वरूप है—मैलसहित या मैलरहित। चौकी पर मैल तो आ ही जाता है और वहाँ कोई कहे कि बताओ चौकी का क्या स्वरूप है—मैलसहित या मैलरहित? तो कहेंगे कि मैलसहित, यह तो चौकी नहीं है, तो चौकी तो अपने में सहज स्वयं जो है सो है। मैल तो ऊपर से आया है, मैल सहितपना चौकी का स्वरूप कैसे बता दिया जायेगा? तो क्या चौकी मैलरहित है? मैलरहित कहने में चौकी की कौनसी बात कही गई यह तो बताओ? चौकी की निज की कोई बात कहने में आयी क्या? कोई बात कहने में नहीं आई है। तो चौकी मैलरहित भी नहीं, दूसरी बात। जैसे किसी पुरुष को कहा कि कैद में है तो वह बुरा मानेगा और किसी से कहा कि कैद से छूट गया तो वह भी बुरा मानेगा। कोई कहेगा कि अच्छी बात तो कह रहे—कैद से छूट गया, मगर कैद से छूट गया ऐसा बोलने में वह कैद में था, ऐसा स्मरण तो बना दिया है। आखिर दोष की बात तो बता दी और यदि पुरुष को प्रशंसित करना है तो उसके कहने का यह ढंग नहीं? इसी प्रकार आत्मा को कहा कषायसहित, वह तो बनता नहीं स्वभाव दृष्टि में। क्योंकि स्वभाव आत्मा का कषायरूप नहीं है और कषायरहित कहा तो इसमें इतनी बात ख्याल में आ गई कि यह कषायसहित था, अब कषायरहित है। मगर आत्मस्वभाव कषायरूप अनादि अनन्त कभी भी नहीं होता। देखो स्वयं कोई पदार्थ अपने आपकी ओर से विकाररूप को लिए हुए हो तो वह पदार्थ अपना सत्त्व ही नहीं बना सकता। पदार्थ का

सत्त्व तब ही होता कि जब वह पदार्थ स्वयं अपने आप सहज निरपेक्ष निज विशुद्ध । स्वभाव को लिए हुए हैं । तो उस ही स्वभाव की चर्चा एकान्ततः उन दार्शनिकों ने सर्वस्व पूर्ण वस्तु मानकर की हि ज्ञान तो अन्वयरूप ही है । उसका इस सूत्र में स्वयं निषेध हो गया जब कहा कि मति श्रुत आदिक भेद में रहने वाले ज्ञान में ही तुम अन्वय देख सकोगे । इससे अतिरिक्त आप अन्वय ही नहीं देख सकते । जैसे बालक, जवान, बूढ़ा—इन अवस्थाओं में ही तुम मनुष्य देख सकोगे, अलग से मनुष्य न देख सकोगे, इसलिए वस्तु को अन्वयव्यतिरेकात्मक मानियेगा ।

सत् की उत्पादव्ययधौव्यात्मकता का एक चित्रण—देखो आजकल का जो राष्ट्रीय झंडा है यह लहराकर दुनिया को एक जिनशासन के इस सूत्र को बतला रहा है—उत्पादव्ययधौव्ययुक्तं सत्, उसमें रंग हैं तीन—हरा, लाल और सफेद । हरे रंग का वर्णन होता है उत्पाद के लिए । जिसने कोई अलंकारिक साहित्य पढ़ा हो तो हर जगह उत्कर्ष के प्रकरण में हरे रंग का वर्णन आयेगा । यहाँ भी बूढ़े लोग कह देते हैं—कहो बाबा जी, आप मजे में हैं ना? तो वह झट कह देता है, हाँ हम खूब हरे-भरे हैं, खूब नाती-पोते हैं, अच्छा कामकाज है, मायने वे उत्पाद को, इस बात को हरे-भरे रूप में बताते हैं । हरा उत्पाद के लिए आता है और लाल व्यय के लिए आता है । साहित्य में लाल हो गया, खून-खच्चर हो गया, लाल रंग के वर्णन से विनाश की बात बतायी जाती है, और सफेद ध्रौव्य में आता है । रंग भी तीन हैं, और वे रंग भी कितना बढ़िया ढंग से हैं कि एक ओर हरा, एक ओर लाल और बीच में सफेद, जो यह ध्वनित करता है कि सफेद पर ही हरा होता है, सफेद पर ही लाल रंग आता है, जिसका अर्थ है कि सफेद मायने ध्रौव्य । जो ध्रुव वस्तु है उसमें उत्पाद और व्यय होता है । और देखो हरा भी सफेद को छुवे हुए है, उत्पाद व्यय होने पर भी ध्रौव्य को लिए हुए है । वस्तु का स्वरूप यह ही है । यह झंडा लहराकर बतला रहा है, और देखो उसमें एक चक्र रहता है उसको समझिये धर्मचक्र । और सुयोग देखिये कि उसमें २४ ही लाइन खींची जाती हैं जो यह बतलाती हैं कि २४वें तीर्थकर के धर्मचक्र में यह बात जाहिर होती है वह झंडा लहराकर कह रहा है कि उत्पादव्ययधौव्ययुक्तं सत्, वस्तु अन्वयव्यतिरेकात्मक है ।

पर की उपेक्षा व निज की अभिमुखता में ही आत्महित का लाभ—देखिये भाई आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानमय है, ज्ञानमूर्ति है । और जो स्वभाव है, स्वरूप है, सर्वस्व है वही मेरा सब कुछ है । ज्ञान से ही हमारा महत्त्व है, उत्कर्ष है, पवित्रता, शान्ति, भलाई यह ही एक मात्र शरण है । जगत के ये सारे पदार्थ जो संयोग से आये हुए हैं, जो मेरे से भिन्न पड़े हैं, ये पदार्थ मेरे लिए कोई शरण नहीं हैं । चूंकि जो गृहस्थ जन हैं, गृहस्थी में रहते हैं तो गृहस्थी में आवश्यक हैं धन वैभव, मकान, परिजन—यह ही तो गृहस्थी का रूप है । तो इन सबको गुजारा कमेटी मानकर रहना, अपना कुछ मानकर मत रहना । यह मेरा घर है, ये मेरे परिजन हैं, ये मेरे मित्र हैं, यह मेरा यश है, यह मेरी बात है, यह मेरा पक्ष है, यह कुछ मानकर न रहना । इन सबसे निराला अपने आप में ज्ञानस्वभाव में यह मैं हूँ, ऐसा अनुभव करना है । मगर ऐसा अनुभव बनाये रहने के लिए बड़ा निरपेक्ष होने की आवश्यकता है । घर से मतलब नहीं, किसी दूसरी वस्तु से मतलब नहीं, शरीर नहीं छूट सकता तो बाहर शरीर मात्र ही रहे । ऐसा निरपेक्ष होकर स्वभाव की आराधना जिससे नहीं बनती वह गृहस्थर्धम् अङ्गीकार

करता है और वहाँ गुजारा चलाने के लिए ये बातें आवश्यक हैं। तो यह इस शरीर का, इस भव का इन भोजनपान आदिक सुविधाओं का गुजारा करने के लिए यह निवास है। यहाँ मेरा कुछ नहीं है, मेरा हित नहीं है, यह पंक है, कीचड़ है, मेरा सर्वस्व नहीं है, यह छूट जायेगा। देखो यदि यह विश्वास हो कि ये सब समागम छूट जायेंगे तो इतने ही विश्वास पर बहुत धीरता आयेगी, क्योंकि सम्यग्ज्ञान कर रहा ना, सम्यग्ज्ञान के बल पर धीरता होती है। देखो लोग बारात में हजारों रुपये की बारूद फूंक देते हैं, मालिक लोग उसका बुरा नहीं मानते और एक कटोरी खो जाये दो रुपये की तो उसका दुःख विशेष करते हैं। क्या फर्क पड़ गया? उसने उस हजार को पहले से ही सोच रखा था कि यह तो मिटने के लिए है, तो फूट जाने पर भी दुःख नहीं होता। और दो रुपये की कटोरी में यह विश्वास बना था कि यह तो जिन्दगीभर तक के लिए है तो उसके गुमने पर दुःख मानता है। तो मिले हुए समागम को यह समझ लें कि ये सब मिटने के लिए है, बिखरने के लिए है, तो इनमें ममता न जगेगी और पद-पद पर कष्ट महसूस न होगा, ऐसे ही समझिये कि इस सच्चे ज्ञान में ही हम को धीरता, तृप्ति, संतोष, पवित्रता सब कुछ लाभ मिलता है और भ्रम से हमको सर्व अनर्थ मिलता है।

“मतिश्रुतावधि मनःपर्यय केवलानि ज्ञानम्” इस सूत्र में क्या समझाया जा रहा है? ज्ञान का लक्षण बताने के लिए यह सूत्र नहीं कहा गया। ज्ञान का लक्षण तो शब्द द्वारा निरुक्ति द्वारा समझ लेना चाहिए। इस मोक्षशास्त्र में ज्ञान का और चारित्र का लक्षण नहीं कहा। सम्यग्दर्शन का लक्षण कहने के लिए एक अलग से सूत्र बताया है उसका कारण क्या है? कारण यह है कि ज्ञान में जो शब्द हैं उन शब्दों से ही ज्ञान की बात प्रकट हो जाती है। चारित्र के शब्द से ही चारित्र की बात प्रकट हो जाती है, जो उसका लक्षण है। पर सम्यग्दर्शन में जो दर्शन शब्द है उससे अर्थ की प्रतीति सही नहीं बनती, क्योंकि दर्शन का देखना भी अर्थ है, आँख से अवलोकन करना भी अर्थ है। तो चूंकि दर्शन शब्द के अनेक अर्थ हैं, अतः सम्यग्दर्शन शब्द से सम्यग्दर्शन की सही बात प्रकट नहीं होती, अतः सम्यग्दर्शन का लक्षण कहने की जरूरत पड़ी, पर ज्ञान शब्द में ही ज्ञान का अर्थ पड़ा है। जो जाने सो ज्ञान। जिसके द्वारा जाना जाये सो ज्ञान। जो जानना सो ज्ञान। तो ज्ञान का अर्थ तो ज्ञान शब्द से ही जाहिर है। यहाँ तो बताने का मुख्य प्रयोजन यह है कि ज्ञान पर्यायरहित नहीं अर्थात् ज्ञान की यहाँ ५ पर्यायें हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल। और ऐसा कहने का प्रयोजन यह है कि जो दार्शनिक पर्यायरहित स्वभाव को मानते हैं, उनका निराकरण और जो स्वभावरहित पर्याय को मानते हैं, उनका निराकरण इस सूत्र से हो जाता है। अच्छा तो अब लक्षणीय बात पर विचार करो। ज्ञान का लक्षण कहने को तो सूत्र कहा नहीं गया। तो फिर हाँ मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल इनका ही लक्षण इससे समझ लीजिए। इसका लक्षण भी अलग से बताया नहीं गया सूत्र में। उसका कारण यह है कि सूत्र ग्रन्थ बड़ा परिमित प्रमाणित संक्षिप्त हुआ करता है कि जो बात स्वयं स्पष्ट हो जाये उस बात को कहने की पुनरुक्ति सूत्र ग्रन्थ में नहीं हुआ करती।

**मतिज्ञान का निर्देशन**—मति, श्रुत, शब्द ही जो उनका अर्थ है उसे बता देता है और वह किस तरह अर्थ है मननं मतिः, यथा मन्यते सा मतिः, मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम होने से जिसके द्वारा मनन होता है उसे मति कहते हैं। मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से इन्द्रिय और मन का निमित्त पाकर याने इन्द्रिय और मन के व्यापार

के निमित्त से परिचय बनता है उस परिचय का नाम है मतिज्ञान । देखो मतिज्ञान निर्विकल्प ज्ञान है । इन पाँचों ज्ञानों में एक श्रुतज्ञान तो सविकल्प है, शेष के चार ज्ञान निर्विकल्प हैं । यहाँ विकल्प का अर्थ है सोच विचार तरङ्ग । विकल्प के तीन अर्थ होते हैं । विकल्प के मायने प्रतिविम्ब ज्ञेयाकार सो ऐसा विकल्प तो ज्ञान का भूषण है, स्वरूप है, वह तो दूर होता नहीं, वह ज्ञान के साथ ही लगा है, सो जानना, इसका भी नाम विकल्प है । और उसमें विचार उठे, तर्कणा उठें तो उसका भी नाम विकल्प है । ऐसा विकल्प केवल श्रुतज्ञान में है, चार ज्ञान में नहीं, और विकल्प के मायने रागद्वेष यह तीसरा अर्थ है । तो इस तीसरे अर्थ का यहाँ प्रसङ्ग ही नहीं है । तो मतिज्ञान निर्विकल्प है । अब आप ध्यान में लावो कि मतिज्ञान का क्या विषय बनता? आँखें खुलीं, देखने में आया, क्या देखने में आया? हरा रंग आया देखने में । अरे यह विकल्प बना कि श्रुतज्ञान बन गया । जहाँ इतने विचार उठे, जहाँ तरङ्ग उठे वह श्रुतज्ञान है, और विचार के बिना, विशेषता के बिना जो ज्ञान में आया वह मतिज्ञान है । देखिये—यद्यपि कुछ समझाने के लिए ऐसा बताया जाता कि देखो जो पहले हरा बोला वह तो मतिज्ञान है और यह जानें कि गहरा है, अच्छा है, यह श्रुतज्ञान है । जहाँ कुछ भी विचार उठे, वह सब श्रुतज्ञान कहलाता है । मतिज्ञान तो निर्विकल्प है और इस दृष्टि से देखें तो हम आपके स्वानुभव के लिए मतिज्ञान की कितनी बड़ी उपयोगिता है? मतिज्ञान से निर्णय करें । वह निर्णायक ज्ञान है, पर सारे निर्णय, सारी विशेषतायें, सारी तरङ्ग मालायें ये सब जहाँ गुप्त हो जायें, शान्त हो जायें, विलीन हो जायें, ऐसी कोई ज्ञानधारा आये वहाँ ही तो स्वानुभव का मार्ग मिलेगा । तो मति शब्द एक मनु ज्ञाने धातु है उससे बना है, उससे किन् प्रत्यय होता है, सो क् और न् का लोप हो जाता है तब उससे मति शब्द बनता है अर्थात् जानना सो मति है । मतिज्ञान में क्या जाना गया? स्व और अर्थ ।

ज्ञान में स्वार्थव्यवसायात्मकता की अनिवारित रीति—देखिये जितने ज्ञान होते हैं सभी ज्ञानों की यह प्रक्रिया है कि वह स्व और अर्थ को जानता है । जैसे दार्शनिक शास्त्र में कहा है कि स्व और अपूर्व अर्थ का निश्चय कराने वाला ज्ञान प्रमाण होता है । जहाँ केवल आत्मा ही जाना जा रहा है वहाँ स्व और अर्थ क्या? जो ज्ञान जान रहा है वह तो स्व और आत्मा अर्थ है । जहाँ परवस्तु जानी जा रही है वहाँ स्व और अर्थ क्या? जानने वाला ज्ञान स्व और जानने में आया हुआ वस्तु है अर्थ । प्रत्येक ज्ञान में स्व और अर्थ दोनों का निर्णय पड़ा हुआ है । और मोटे रूप से यों समझिये—क्यों भाई जैसे यहाँ परवस्तु का उदाहरण ले रहे, यहाँ से आपने जाना कि वह सिंहासन रखा है तो आपको ठीक अनुभव हो गया कि यह सिंहासन ही तो दिखा । सिंहासन के बारे में पूरा निश्चय है ना, यह सिंहासन ही है, और सिंहासन है ऐसा जो जान रहा है उस ज्ञान के बारे में भी तो निश्चय के साथ निश्चय पड़ा हुआ है कि यह ज्ञान ठीक ही है । ठिकाई करने में दो जगह निर्णय बनता है । जिसको जाना जा रहा है वहाँ की ठिकाई और जो जान रहा है उस ज्ञान की ठिकाई । एक कल्पना करो कि हम उस सिंहासन के बारे में पक्का निर्णय किए हैं कि यह सिंहासन है, सही चीज है । वहाँ तो हम निश्चय किए बैठे और जानने वाले ज्ञान में हम संशय करें कि उसे जानने वाला जो यह ज्ञान है यह ठीक है कि नहीं? अगर यहाँ संशय है तो वहाँ भी संशय है और यहाँ अपने ज्ञान की ठिकाई है तो वहाँ भी ठिकाई है । ज्ञान का स्वरूप है ऐसा कि जो निज का और अर्थ का निश्चय करता है, यहाँ निज के मायने ज्ञान लेना है, आत्मा नहीं

और यह सब जगह घटेगा। जो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जन हैं वे भी परवस्तु को जानते हैं। तो उनके उस व्यवहार में स्व और अर्थ का निश्चय पड़ा है। जान रहे कि यह चीज है, वहाँ भी निर्णय है और जिस ज्ञान से जान रहे कि यह चीज है, उस ज्ञान का भी निर्णय है कि मेरा ज्ञान सही है। और लोग कहते भी हैं मेरा ज्ञान सही है और बात ऐसी ही है। बात में भी सहीपन बैठाना और ज्ञान में भी, इससे सिद्ध है कि सहीपन का सम्बन्ध दोनों के साथ होता है। तो मतिज्ञान स्व और अर्थ को जानता है। जो स्वयं ज्ञान है वह तो है स्व और जो जाना जा रहा है वह होता है अर्थ।

केवल स्व या केवल अर्थ के परिचय के एकान्तवाद का निराकरण—क्यों जी, आप लोग सोचते होंगे कि ऐसा बताने की क्या जरूरत है? क्या कोई ऐसे भी लोग हैं जो यह विश्वास बनाये हों कि ज्ञान स्व को ही जानता है, अर्थ को नहीं जानता। या क्या कोई ऐसे भी लोग हैं कि जो यह कहते हों कि ज्ञान अर्थ को ही जानता हैं, स्व को नहीं जानता? हाँ हैं दार्शनिक ऐसे। जैसे ज्ञानाद्वैतवादी। उनका मंतव्य है कि जगत में अर्थ कोई है ही नहीं। सब सूना है। केवल एक स्वज्ञान है, ज्ञानमात्र है। यह है बौद्धों का एक भेद ज्ञानाद्वैतवादी उसकी चर्चा है। तो उनका मंतव्य यह है कि जगत में जो कुछ है वह सब ज्ञान ज्ञानमात्र है। बाहरी पदार्थ कुछ नहीं हैं। अब देखो जो इस तरह का विश्वास लेकर चल रहा हो कि भाई, ज्ञान से प्रयोजन है, ज्ञान से काम है, सो ज्ञान को ही सत् कहो और बाकी जगत की और बातें हैं, या पर्यायें हैं, या पदार्थ हैं उनसे हमें मतलब नहीं, उनका सत् मत कहो तो बस इसके ही समर्थक हैं वे एकान्तवादी, जो यह कह रहे हैं कि ज्ञान ही ज्ञान हैं सब, अन्य कुछ सत् नहीं। तो ऐसे दार्शनिक हैं जो स्व को ही मानते हैं और अर्थ को नहीं मानते। अच्छा तो फिर ऐसे भी कोई दार्शनिक हैं क्या कि जो अर्थ को मानते हैं और स्व को नहीं मानते। हाँ ऐसे भी हैं। जैसे जानना तो होता है, मगर वह जानना पदार्थ से निकलता है। ऐसा मानते हैं कोई दार्शनिक कि ज्ञान स्वयं कोई चीज नहीं है और न ज्ञान स्व को जानता है। ज्ञान जो होता है वह पदार्थ से निकलता है और इसी कारण ही यह निर्णय बनता है कि इस ज्ञान ने इस पदार्थ को जाना और को नहीं जाना, क्योंकि जो ज्ञान जिस पदार्थ से बनेगा वह ज्ञान उस पदार्थ को जानने वाला कहलायेगा, ऐसा भी मानने वाले दार्शनिक हैं। जो केवल अर्थ अर्थ को ही मानते हैं, स्व को नहीं मानते। तो इस सूत्र में दोनों प्रकार के एकान्तवादियों का निराकरण! है। ज्ञान के इन लक्षणों से कि ज्ञान उसे कहते हैं जो स्व और अपूर्व अर्थ को जाने, निश्चय करे उसे कहते हैं ज्ञान।

एक विलक्षणता और देखो, ऐसे भी दार्शनिक हैं कि जो यह तो कहते हैं कि स्व भी जानने में आया, पर भी जानने में आया, पर जो ज्ञान निश्चय करे वह ज्ञान अप्रमाण है और जब तक निश्चय नहीं होता तब तक वह ज्ञान प्रमाण है। आपको सुनने में कुछ अटपटासा लगता होगा, मगर उनकी दलील जब सुनो तो आपको बहुत विचार करना पड़ेगा कि ये कहलाते हैं प्रत्यक्षवादी याने वे क्षणिकवादी लोग जो यह कहते हैं कि जिस क्षण में जो बात हुई, चाहे पर्याय लगा लें, चाहे पदार्थ ही लगा लें। जिस क्षण में जो पदार्थ उत्पन्न हो उसको जब हम जानने चलते हैं तो निश्चयात्मक तो जानने में देर होती है, समय बहुत छोटा होता है ना, तो जब हम जानते हैं तो वह पदार्थ निकल जाता है, नष्ट हो जाता है। अब जो पदार्थ नष्ट गया जितने समय में तो ज्ञान ने किसे

जाना? असत् को जाना याने कल्पना ही रही, क्योंकि पदार्थ तो रहा ही नहीं। और जो असत् को जाने सो अप्रमाण। तो जिस समय वह पदार्थ था उस समय भी ज्ञान हुआ, मगर उस समय का ज्ञान निश्चय करने वाला नहीं था। निश्चय करने में थोड़ा समय लगेगा तो जब निश्चय बने तो वह सविकल्प ज्ञान है। विकल्प बिना निश्चय नहीं होता। तो निश्चय करने वाला ज्ञान तो अप्रमाण है और जहाँ निश्चय नहीं, विकल्प नहीं, ऐसा जो प्रतिभास है वह प्रमाण है। ऐसे मानने वाले भी दार्शनिक हैं। तो उन दार्शनिकों का निराकरण होता है, व्यवसायात्मक ज्ञान होता है इस बाक्य से। जो स्व और अर्थ का निश्चय करे वह प्रमाण होता है। ये दो बातें बराबर सबमें देखते जावो। मतिज्ञान ने जो जाना वह मानो इस तरह जाना जिस तरह का ज्ञान अभी बतलाया, क्षणिकवादी का बताया। विकल्प हुआ बाद में। तो जानने में आया पहले निर्विकल्परूप से। बस जो मतिज्ञान है सो ही उनका निर्विकल्प प्रत्यक्ष है। मगर अन्तर इतना है कि मतिज्ञान में तो निर्णय है और उनका निर्विकल्प प्रत्यक्ष में निर्णय नहीं है।

**मतिज्ञान के निर्देश का उपसंहार—**मतिज्ञान को सरल बातों में यह समझ लो कि पांच इन्द्रिय और मन के द्वारा जो पहिले-पहिले बोध होता है उसे कहते हैं मतिज्ञान। हम आपके समस्त ज्ञान विस्तार की नींव है मतिज्ञान, क्योंकि श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। अब उसमें एक सूक्ष्मता से परिचय बनाये तो आपके सुनने में शब्द आ रहे ना? तो जहाँ इतना अर्थ लगा आप के अन्दर तो वह सुनना मतिज्ञान नहीं। तो श्रुतज्ञान बन गया, क्योंकि वहाँ आपका विचार उत्पन्न हुआ। इसी तरह प्रत्येक इन्द्रिय और मन की बात है, ऐसा विलक्षण विषय है मतिज्ञान का कि यदि मतिज्ञान का विषय ही समझ में आया तो ख्याल और विकल्प की सिट्टी भूल जाये, वहाँ ख्याल, विकल्प तरंग-कुछ नहीं उत्पन्न होते, ऐसा पवित्र विषय है मतिज्ञान का। यह सम्यग्ज्ञान की बात चल रही है। यह सब कुछ बताने के लिए यह प्रकरण तो नहीं चल रहा, मगर बताने से ही तो इसका विशेष बोध होगा। प्रकरण तो यह चल रहा कि पदार्थ के ज्ञानने के उपाय क्या-क्या हैं—प्रमाण और नय। प्रमाण का नम्बर है यह। प्रमाण क्या चीज है? सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं, सम्यग्ज्ञानं प्रमाण है। सम्यग्ज्ञान क्या है? तो यह मतिश्रुत, अवधि, मनःपर्यय व केवलज्ञान है सम्यग्ज्ञान। ये इसकी पर्यायें हैं, ये परिणतियां हैं। मतिज्ञान के भेद आयेंगे आगे। इस भेद से मतिज्ञान के बारे में बहुत परिचय मिलेगा।

**श्रुतज्ञान का निर्देश—**अब श्रुतज्ञान का स्वरूप देखिये—श्रुतज्ञानावरण के क्षयोपशम से जो श्रवण करना है वह श्रुत है। अब यहाँ पर श्रवण के मायने कानों से सुनना ही अर्थ नहीं, यह उपलक्षित शब्द है। श्रवण करना मतिज्ञान से जो जाना है उसका श्रवण करना, उसके सम्बंध में कुछ चिन्तन होना सो श्रुतज्ञान है। अभी किसी से कोई बात कहें और वह ध्यान से न सुने, सुन तो रहा है, कानों में ढक्कन तो लगे नहीं है, आंखों में जरूर ढक्कन हैं, चाहें तो इन दोनों ढक्कनों को बंद कर लिया। हमें आपको नहीं देखना है तो ढक्कन बंद कर लिया, मगर हमें आपकी बात नहीं सुनना तो इसका आप क्या उपाय बनायेंगे? कानों में ढक्कन तो हैं नहीं, वे सुनने में आयेंगे, मगर एक साधारण तौर से सुन लेना, ऐसा ही अगर कोई सुन रहा है और इसमें कोई चिन्तन, मनन, ध्यान नहीं बना रहा है तो आप उससे कहते—अरे सुन नहीं रहे?.... सुन तो रहे। उसे सुनना नहीं कहते याने कुछ विचार करते हुए सुने उसका नाम यहाँ सुनना समझिये। तो मतिज्ञानपूर्वक जो इसी विषय के सम्बंध

में अधिक परिचय है वह सब श्रुतज्ञान है । देखो जो देखने में, जो समझ में आया सो मतिज्ञान और यह अमुक है, गहरा रंग है, हरा रंग है, यह भी जाना गया है आदिक बातें सोचना सो श्रुतज्ञान है । श्रुतज्ञान भी स्व और अर्थ का निश्चयक है । जो जाना जा रहा है, चाहे पर अर्थ जाना जा रहा हो, चाहे आत्मपदार्थ जाना जा रहा हो उसका परिचय बनता रहता है । और जो ज्ञान जान रहा है उसका भी निश्चय बन सकता है । यहाँ मोटी बात यह समझनी है कि जिस ज्ञान से हम चीज को निश्चित जान रहे हैं तो पहले यों समझ लो कि इस ज्ञान के जानने का हमें निश्चय है कि यह जो मेरा ज्ञान है वह सही है, उसके ही साथ बाह्य अर्थ के सहीपन का निश्चय चलता है । यह ज्ञान का स्वरूप है, ज्ञान की प्रकृति है । ज्ञान खुद अपने आप में संदेह बनाये तो अर्थ परिचय में निःसंदिग्धता नहीं हो सकती । जैसे यह सीप है कि चांदी? ऐसा जब डावांडोल बाह्य पदार्थ के बारे में परिचय चल रहा हो तो साथ में यह ज्ञान का डावांडोल भी चल रहा कि नहीं? दोनों जगह डावांडोल है । और यदि निश्चय है तो दोनों जगह निश्चय है । तो श्रुतज्ञान भी स्व और अर्थ का निश्चय करने वाला होता है । अब देखिये—भाई, सब कुछ निश्चयव्यवहारात्मक है कथन । अब यहाँ यदि केवल निश्चय से देखें तो यह कहें कि ज्ञान केवल स्व को जान रहा है, व्यवहार से देखें तो कहें कि पर को जान रहा है, अर्थ को जान रहा है । आत्मा के ही ज्ञान में स्व और पर लगे हुए हैं । जो जान रहा है सो स्व और जो ज्ञेय आत्मा है सो पर ।

आत्मा के परिचय व अनुभव की पद्धति—देखो आत्मा के अनुभव करने की जो पद्धति है वहाँ परिचयपद्धति से मिलती है—अनुभवपद्धति । मगर परिचयपद्धति और अनुभवपद्धति की एक सूक्ष्मता देखिये । किसी भी पदार्थ को हम जानते हैं तो उस पदार्थ का परिचय इन चार दृष्टियों से होता है—(१) द्रव्य, (२) क्षेत्र, (३) काल, (४) भाव । एक इस पुस्तक का ही हम ज्ञान करें तो द्रव्यदृष्टि से यह पुस्तक है, जो पिण्ड है, जो हाथ में लिए हैं, यह तो द्रव्य से जाना । क्षेत्र से जाना—इसका जितना आकार प्रकार है, लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई है, ऐसा जो इसका परिचय बनता तो क्षेत्रदृष्टि से बनता । और इसकी जो वर्तमान परिणति है वजनदार, हल्का, हरा, पुराना, नया, पुष्ट, कमज़ोर जो पुछ भी आप जान रहे हैं यह किस दृष्टि से जाना? कालदृष्टि से । और इसमें जो शक्ति है, गुण हैं उनको जाना स्वभावदृष्टि से । इसी तरह आत्मा का भी परिचय चार दृष्टियों से मिलता है । द्रव्यदृष्टि अर्थात् गुण पर्यायपिण्ड । वह सब जो कुछ एक है वह द्रव्यदृष्टि से जाना । क्षेत्रदृष्टि से जाना आत्मा का फैलाव । जैसे अभी पैर के नख से लेकर सिर तक इतना लम्बा-चौड़ा आत्मा है कि प्रदेश से जाना, क्षेत्र से जाना । काल से जाना—आत्मा में जो कुछ परिणति हुई—विकारी परिणति, अविकारी परिणति, यह स्वभाव नहीं जानने में आया । क्रोध कर रहे तो क्रोध, शान्त रहे तो शान्ति । ये सब परिणतियां जानी तो कालदृष्टि से । और भावदृष्टि से क्या जाना? भाव होते हैं दो प्रकार से । भेदरूप भावदृष्टि और अभेदरूप भावदृष्टि । भेदरूप भावदृष्टि से जाना कि आत्मा में ज्ञानगुण है, दर्शनगुण है, चारित्रगुण है, आनन्दगुण है और अभेदभावदृष्टि से जाना कि आत्मा चिदात्मक है, चैतन्यस्वरूपमात्र है । वहाँ भेद नहीं होता । तो अब यह देखें कि परिचय के बिना हम अनुभव के पात्र नहीं बन सकते । मगर परिचय में हमने जो-जो कुछ समझा है उस उससे उत्तीर्ण होकर उन उनको पार करके जब हमें अभेदभाव दृष्टि से अपने आपमें अपना प्रयोग करना है तब हमें वहाँ स्वानुभव बनेगा ।

**निज में स्व व पर के परिचय का विभाग—**अब देखो इव्य से भी हमने जो आत्मा जाना, अनुभव में जो आत्मा जाना उसके सामने तो पर है। क्षेत्र से हमने आत्मा जाना, किन्तु अनुभव से जो आत्मा जाना उसके आगे पर है। काल से जाना सो पर है, गुण से जाना सो पर है, और अभेददृष्टि से जो एक चिदात्मक अनुभव बना वह है आत्मा। स्व और पर की व्यवस्थायें बहुत विस्तृत हैं। उसका यह प्रकरण नहीं है। “प्रमाणनयैरधिगमः”। सूत्र का जब प्रकरण था तो वहाँ इसको बहुत स्पष्ट किया गया था। यहाँ स्व और अर्थ से मतलब है—स्व मायने खुद याने जानने वाला ज्ञान, न कि आत्मा और अर्थ मायने जो कुछ ज्ञान में विषय हो रहा है वह पदार्थ। तो देखो अर्थ तो हुआ व्यवहार और स्व हुआ निश्चय और जानने में दो के बिना जानना होता ही नहीं। केवल अर्थ-अर्थ को जानें, स्व न हो तो ज्ञान नहीं बनता। केवल ज्ञान स्व हो और वहाँ अर्थ न हो याने ज्ञेय न हो कुछ तो ज्ञान की मुद्रा नहीं बनती। इतने पर भी आप इन सब परिचयों का उपयोग क्या करेंगे और उनका प्रयोजन क्या है? एक धून होनी चाहिए, बस निर्विकल्प एक अनादि अनन्त निज सहज परमात्मतत्त्व की दृष्टि प्रतीति अनुभूति उसके लिए जो-जो करना पड़े सो करें। क्या करना पड़ेगा? संयम, तपश्चरण, विशुद्धि, कषाय की मंदता। जो कुछ करना पड़े करें, किसके लाभ के लिए? एक मेरे अपने आपके अनादि अनन्त अहेतुक सहज परमात्मतत्त्व का अनुभवात्मक परिचय रहा करे इस प्रयोजन के लिए। क्योंकि अभी अपन बहुत दूर खड़े हैं। दूर खड़े के मायने इस अनुभवरूप महल में पहुंचने के लिए इससे हम कितनी दूर खड़े हैं इतनी दूर रहने वाले हैं। तो यहाँ ज्ञान के प्रकरण में बोल रहे हैं कि स्वार्थे मतिः स्वार्थे श्रुतं, स्व और अर्थ के बारे में जो मनन है सो मति है, श्रुत ज्ञानावरण का क्षयोपशम होने पर जो श्रवण है, चिन्तन है उसे कहते हैं श्रुतज्ञान।

**अवधिज्ञान का निर्देश—**अवधिज्ञान किसका नाम है? अवधिज्ञानावरण के विगम होने से, विगम तो नहीं होता, किन्तु जैसा विगम है वह है क्षयोपशम। तो जितना क्षयोपशम हो, उतना अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम होने से स्व और अर्थ का जो ज्ञान है उसे कहते हैं अवधिज्ञान। देखो अवधिज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना होता है, केवल आत्मा के आश्रय से होता है और इसीलिए इसे प्रत्यक्ष कहते हैं, फिर भी इस आत्मप्रदेश में, इस देह में अवधिज्ञान होते समय जहाँ कहीं भी एक ऐसे चिह्न से हो जाते हैं जिसे आप समझिये कि वे मानो इन्द्रिय और मन का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। अब समझ लो कि निरपेक्ष होने पर भी अभी इतनी कमजोरी है और उसके ऐसे चिह्न करणानुयोग में तीन-चार प्रकार के बताये गए हैं। अवधिज्ञान को प्रकृति होती है कि नीचे का क्षेत्र ज्यादा जाने, यह अवधिज्ञान की प्रकृति है। जानता है अवधिज्ञान चारों ओर की बात। जितनी भी मर्यादा हो, लेकिन उसमें नीचे के क्षेत्र की म्याद अधिक होती है, अगल-बगल की म्याद उससे कम होती है और ऊपर की म्याद उससे भी कम होती है। यह अवधिज्ञान से जानने की प्रकृति है। अवधिज्ञान से जाना। जानने के बाद अगर किसी को बताना हो तो वह अवधिज्ञान से न बता सकेगा, श्रुतज्ञान से बतावेगा। अवधि-ज्ञान तो इस ढंग का काम करता है जिस ढंग से मतिज्ञान काम करता है। मतिज्ञान निर्विकल्प है। अवधिज्ञान भी निर्विकल्प है। जैसे मतिज्ञान से जाना, श्रुतज्ञान से बखाना तो अवधिज्ञान से जाना और श्रुतज्ञान से बखाना। पुराणों में जहाँ कहीं चर्चा आती है कि अमुक राजा अवधिज्ञानी मुनि के पास पहुंचा,

उसने अपना पूर्वभव पूछा तो अवधिज्ञानी मुनि महाराज ने उत्तर दिया । इतने में हो क्या गया उनके अंदर कि अवधिज्ञान से तो मतिज्ञान की तरह ऐसा साफ स्पष्ट ज्ञान लिया जैसे कि हम आंखों से स्पष्ट ज्ञानते हैं उससे भी स्पष्ट । इस प्रकार इन्द्रिय मन की सहायता के बिना अवधिज्ञान से यहाँ वहाँ के पदार्थ जाने जाते हैं, जाने गए और अब जब उनको बताने लगे तो उस ज्ञान का स्मरण रहा अभी । जो अवधिज्ञान से जाना उसका उनके बराबर अवधारण हैं और फिर श्रुतज्ञान के उपयोग से दूसरे को बताते हैं । जिस समय बता रहे उस समय अवधिज्ञान से जान नहीं रहे । जिस समय अवधिज्ञान से जान रहे उस समय बता नहीं रहे, यों अवधिज्ञान भी मतिज्ञान की तरह निर्विकल्प होता है । तो यह सम्यग्ज्ञान इन चार पर्यायोंरूप होता है जिसमें मति, श्रुत, अवधिज्ञान का संक्षेप में स्वरूप कहा, अब आगे कहेंगे ।

**मनःपर्ययज्ञान का निर्देशन—**“मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्” इस सूत्र के विवरण के प्रसंग में मनःपर्यय ज्ञान की बात कह रहे हैं । मनःपर्यय में चार शब्द हैं—मनः परि, इण, अञ् । मनः एक उपपद है, परि उपसर्ग है, इण गतौ धातु है और अञ् इसमें प्रत्यय लगता है । सबका संधि होनेपर मनःपर्यय शब्द बनता है । इस शब्द के अनुसार इसका अर्थ है, मन की बात को जो चारों ओर से जाने उसे मनःपर्यय कहते हैं । यह निरुक्ति अर्थ हुआ । आगमार्थ क्या है? मनःपर्यय ज्ञानावरण के क्षयोपशम से परकीय मनोगत अर्थों को आत्मीय शक्ति से इन्द्रिय और मन की सहायता से जाने उसे मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं । यहाँ मन एक अवलम्बन मात्र है । कहीं मन के द्वारा मनःपर्ययज्ञान नहीं होता । यह तो आत्मीय शक्ति से होता है तब ही प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है । पर जैसे वृद्ध पुरुष चलता तो अपनी शक्ति से है, मगर लाठी अवलम्बन मात्र है या जैसे दूर रहने वाले चंद्रमा को देखते हैं और उसे किसी बच्चे को दिखाना है तो किसी डंडे या अंगुली के सहारे से दिखाते हैं । तो वह अंगुली या डंडा आलम्बन मात्र है । देखा तो आंखों से ही जाता है, ऐसे ही मनःपर्यय ज्ञान में जाना तो आत्मा से ही जाता है, मगर अवलम्बन है मन । किसका मन? परकीय मन और स्वकीय मन । इनमें इतना अंतर समझना कि दूसरे के मन के आलम्बन का अर्थ इतना है कि दूसरे के मन में आया हुआ विकल्प, पदार्थ विषयभूत होता है । यह परकीय मन तो विषयभूत की अपेक्षा अवलम्बन है, और स्वकीय मन ईहामतिज्ञान पूर्वक मतिज्ञान होता है । इस रूप से अवलम्बन मात्र है । जैसे अवधिज्ञान अवधिदर्शन पूर्वक होता है ऐसे ही मनःपर्ययज्ञान किस दर्शनपूर्वक होता है? कोई दर्शन अलग क्यों नहीं बताया गया? तो उसका कारण यह है कि मनःपर्ययज्ञान ईहामति पूर्वक होता है तो वह दर्शनपूर्वक नहीं होता । इसका कारण क्या है कि जब पहले कुछ एक मन में तर्कणा जगती है—जानूँ इस प्रकार की आकांक्षा बनती है और स्वकीय मन में प्रयोग प्रारम्भ होता है तब इसके अधिकारी मुनि के यह विकल्प मिटकर मनःपर्ययज्ञान बनता है और दूसरे के मन के भाव या मन में जो बात आयी हो वह जान लिया जाता है । तो यों मनःपर्यय ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है और यह ज्ञान ज्ञानसामान्य का एक परिणमन है ।

**केवलज्ञान का निर्देशन—**केवलज्ञान—केवलज्ञान का अर्थ क्या है कि केवल याने असहाय, स्वसहायक, मात्र, प्योर, वही-वही जो क्षयोपशमिक ज्ञान के सहाय से रहित है, केवल आत्मशक्ति से स्वभावतः जो जानना होता है वह है केवलज्ञान । तो जो असहाय हो उसे केवल बोलते हैं । असहाय का अर्थ क्या? स्वसहाय । कहीं इस

तरह अर्थ न लगाना कि बेचारा असहाय है, इसका कोई मददगार नहीं है। अरे असहाय होना सबसे ऊँचा पद है और असहाय होना, यह तो एक स्वाधीनता की बात है। तो प्रभु का केवलज्ञान असहाय है। इन्द्रिय मन की अपेक्षा नहीं रखता कि सामने पदार्थ हो, वर्तमान में पदार्थ हो आदिक अभिमुखता की अपेक्षा नहीं रखता, और किसी ज्ञानपूर्वक वह भी सहाय की अपेक्षा नहीं रखता, ऐसा असहाय स्वयं समर्थ ज्ञान केवलज्ञान है। दूसरी प्रकार से केवलज्ञान का अर्थ समझिये—यह केवल शब्द बना है किव धातु से “यदर्थ मार्ग केवंते तत् केवलम्।” जिसके लिए भव्य जीव मार्ग की सेवा करते हैं उसे कहते हैं केवल। किसलिए लोग धर्म में लग रहे? एक अपने वास्तविक स्वरूप के लाभ के लिए। जो स्वयं सहज हो सो हो अर्थात् क्या होता वहाँ केवलज्ञान। तो जिसके लिए जिस एक स्वाभाविक ज्ञान के लिए अर्थी जन, भव्य जन मार्ग की सेवा करते हैं उसे कहते हैं केवलज्ञान। देखो केवलज्ञान में दो शब्द पड़े हैं—के और बल। क संज्ञा है और उसका अर्थ आत्मा होता है। एकाक्षरी कोश में क के मायने है आत्मा और के है सप्तमी विभक्ति में। के मायने आत्मा में जो सामर्थ्य है वह सब सामर्थ्य आत्मा में है, प्रकट है। ऐसी जहां स्थिति हो उसे कहते हैं केवल। और ऐसी सामर्थ्य वाला जो ज्ञान है उसे कहते हैं केवलज्ञान।

निमित्त और उपादान की दृष्टि से केवलज्ञान के आविर्भाव का दिग्दर्शन—केवलज्ञान कैसे हुआ? इसके सम्बन्ध में मोक्षशास्त्र में दशम अध्याय का पहला सूत्र है मोह का क्षय होने से और ज्ञानावरण, दर्शनावरण अन्तराय का क्षय होने से केवल प्रकट हुआ है। तो कितनी बातें आयी? मोह का क्षय। सो मोह का क्षय होता है तीन जगह में और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय का क्षय होता है एक जगह में। ऐसे ४ पद वे कौन हैं? मोह के क्षय के लिए तीन विभाग बनाओ। एक बार होगा दर्शनमोह का क्षय और उसी के साथ चारित्रमोह की चार प्रकृतियां। इन ७ का होता है एक पद में क्षय। वह क्षय चौथे गुणस्थान से लेकर ७वें गुणस्थान तक के बीच कहीं भी हो सकता है। शेष बची जो चारित्र मोह की २१ प्रकृतियां हैं उनमें से २० का क्षय होता है १वें गुणस्थान में और संज्वलन लोभ का क्षय होता है १०वें गुणस्थान में और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय इन तीन का क्षय होता है १२वें गुणस्थान के अन्त में। इस प्रकार चारों घातिया कर्मों का क्षय हो जाने पर केवलज्ञान प्रकट होता है। अच्छा अब जरा उपादानदृष्टि से देखिये तो बताया गया है कि अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण ज्ञानस्वभाव का उपादान करके उसके ऊपर प्रवेश करने वाले केवलज्ञानरूप होकर वह आत्मपरिणति है। हुआ क्या? देखो यह बात झट समझ में आयेगी कि छद्मस्थ अवस्था के बाद केवलज्ञान हुआ इस प्रसंग में कि अनादि अनन्त अहेतुक ज्ञानस्वभाव का आश्रय करके केवलज्ञान हुआ, पर जहां केवलज्ञान हो रहा है और प्रतिसमय केवलज्ञान चल रहा है वहाँ केवलज्ञान के विकास की क्या विधियां हैं, याने प्रतिक्षण केवलज्ञान जो होता चले जा रहा हैं उसकी क्या विधि है? उसकी भी यह ही विधि है कि कारणसमयसार को उपादान कर कार्यसमयसार चलता जा रहा है। कारणसमयसार पारिणामिक भाव ध्रुव उपादान, ओघशक्ति ये सब शाश्वत अनादि अनन्त हैं। कहीं प्रभु हो जाने पर स्वभाव मिट गया हो सो बात नहीं, उस ही स्वभाव का उपादान कर यह शुद्ध पर्याय प्रकट होती जा रही है, ऐसा यह केवलज्ञान जो कि सहज है, पवित्र है, निरपेक्ष है तो इस ज्ञान में इतनी सामर्थ्य है कि जो भी सत् था, है, होगा, सत् तो सदा रहता है, मगर पर्याय अपेक्षा समझना है कि जो सत् था, है, होगा

वह सब एक साथ ऐसे केवलज्ञान में प्रतिबिम्बित होता है, प्रकट होता है, ज्ञान होता है जैसे कि मानो कोई पूर्वकाल और भविष्यकाल और वर्तमानकाल के इतिहास के पुरुषों का चित्र एक पट में हो और जैसे इस पट के चित्र को हम एक साथ देख लेते हैं, ऐसे ही वहाँ उपयोग में समस्त त्रिलोक त्रिकालवर्ती पदाश्र स्पष्ट एक साथ प्रतिबिम्बित होते हैं, ऐसा विशुद्ध केवलज्ञान वह भी ज्ञान है। इस तरह ज्ञान की इन ५ अवस्थाओं का वर्णन इस सूत्र में किया गया है।

**मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय व केवलज्ञान** के अर्थ की शब्द द्वारा प्रतिपत्ति—इन ५ ज्ञानों का अलग से अर्थ करने वाला कोई सूत्र नहीं है। मत रहो। कारण यह है कि शब्द द्वारा ही इस ज्ञान का स्वरूप जान लिया जाता है। जब शब्द से जानना न बने तब कोई लक्षणान्तर की सूचना देनी होती है। अब इस सूत्र में यह देखिये कि इन ५ ज्ञानों के नाम इस कम से क्यों रखे गए? और तरह भी रख सकते थे—श्रुत, मति, अवधि, इस ढंग से भी रख सकते थे। किसी भी प्रकार रख सकते थे। यह ही क्रम क्यों रखा कि पहले मतिज्ञान, फिर श्रुतज्ञान, फिर अवधिज्ञान, फिर मनःपर्ययज्ञान, फिर केवलज्ञान। देखिये सूत्र पाठ की बातें, जो आप लोग भक्ति से पर्व के दिन या भक्ति में जब पाठ कर लेते हैं तो किसका पाठ करते और उस पाठ में क्या बोला करते, वह ही कुछ बात यहाँ कह रहे हैं। ५ ज्ञान यहाँ बताये गए हैं—जो इन्द्रिय, मन से एकदेश विशद ज्ञान करे उसका नाम मतिज्ञान और मतिज्ञान से जानकर उस विषय में विशेष प्रतिपत्ति पाये उसका नाम श्रुतज्ञान। और इन्द्रिय, मन की सहायता बिना कुछ भूत भविष्य और दूर क्षेत्र के रूपी पदार्थों को जाने सो अवधिज्ञान और दूसरे के मन में रहने वाले विकल्प विचारों को इन्द्रिय मन की सहायता बिना आत्मीय शक्ति से जाने सो मनःपर्ययज्ञान और आत्मशक्ति से पूर्ण निरावरण होने के कारण जो सर्व सत् को एक साथ जाने उसको कहते हैं केवलज्ञान। वे ५ ज्ञान क्या हैं यह किसी और की चर्चा नहीं की जा रही है, यह हमारी ही चर्चा है। कुछ ज्ञान अभी ऐसा है, जो नहीं है उसका इस ज्ञान में पूर्ण सामर्थ्य पड़ा हुआ है, स्वभाव पड़ा हुआ है। अब जो विधि है, जो विधान है उस ढंग पूर्वक बने तो उसका विकास होता है।

सूत्र में मति का सर्वप्रथम और इसके बाद श्रुत शब्द का प्रयोग करने का कारण—इन ५ ज्ञानों को इस सूत्र में कैसा क्रम से रखा गया? इसका कारण सुनो। सबसे पहले क्या रखा? मति। सबसे पहले मति रखने के तीन कारण हैं। पहली बात तो यह है कि यह शब्द स्वन्त है अर्थात् सु संज्ञा वाला है। जिस शब्द के अंत में “इ” और “उ” लगा हो उसको सु संज्ञा वाले बोलते हैं और सु संज्ञा वाले शब्दों का प्रकृत्या पहले ही बोलना बनता है। देखो रिवाज भी ऐसा होता है। अब कुछ और सुनिये, बात यह है कि इकाग्रान्त शब्द है, सु संज्ञा वाला है, इतने मात्र से पहले कहने का अधिकार नहीं, एक कारण यह भी है। दूसरा कारण यह है कि इसमें अल्प अक्षर हैं। इन ५ में सबसे थोड़े अक्षर इसी में हैं, कैसे जाना? देख लो व्यञ्जन दो हैं और स्वर भी दो हैं। अब सबमें लगा लो। श्रुत में तीन व्यञ्जन हैं, दो स्वर हैं, अवधि में तो ३ व्यञ्जन हैं व ३ स्वर हैं, मनःपर्यय में भी ज्यादा, केवल में भी ज्यादा, तो थोड़े अक्षर हैं इसलिए मति का पूर्व निपात है। जब कभी आपको दो चार लड़कों का नाम लेना होता है बुलाने के लिए तो प्रकृत्या जिसके थोड़े अक्षर हों नाम के वह नाम पहले लेने में आता है, कुछ ऐसी आदत भी है लोगों की। तो इन दो कारणों से मति का प्रयोग पहिले

किया है। और तीसरा कारण यह है कि इसका विषय अल्प है। मतिज्ञान का विषय तो सबसे छोटा है ना, विस्तार भी नहीं है। प्रारम्भिक ज्ञान है यह हम आप जीवों का। इन तीन कारणों से मति शब्द को इस सूत्र में पहले लिखा गया है। मति के बाद श्रुत शब्द क्यों दिया कि श्रुत का सम्बन्ध मति से अधिक है। श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है और श्रुतज्ञान मति को लेकर होता है। इस कारण श्रुतज्ञान को मतिज्ञान के बाद कहा। यों परोक्षज्ञान से पहले निपटा दिया, क्योंकि हम आपके ये सब ज्ञान चलते हैं। तो जो हम आप में बात प्रसिद्ध होती है और यह सबमें होती ही रहती है अनादि से। तो जो चल रहा है उसकी बात पहले करनी होती है। इस तरह इस सूत्र में मति और श्रुत शब्द का पहले निपात किया।

प्रत्यक्षज्ञानों में प्रथम अवधि, पश्चात् मनःपर्यय के प्रयोग का कारण—अब इसके बाद प्रत्यक्षज्ञान का क्रम देखिये। इसमें क्रम दिया है—अवधि, मनःपर्यय और केवल, इन तीन में अवधिज्ञान को पहले क्यों रखा है? इसका कारण यह है कि इन तीन ज्ञानों में सबसे कम विशुद्धि अवधिज्ञान में है। देखो तभी तो अवधिज्ञान के संसार में स्वामी भी अधिक संख्या में हैं। नारकी सभी अवधिज्ञानी हैं। अब उसमें सम्यग्ज्ञान मिथ्याज्ञान का भेद करके छाटे भेद यह एक अलग बात है, फिर भी चारों गतियों में अवधिज्ञानी सम्यज्ञानी हो सकते हैं। और यों अवधिज्ञानी मनःपर्ययज्ञानी से बहुत अधिक संख्या में पाये जाते हैं। अवधिज्ञान की विशुद्धि अल्प है मनःपर्ययज्ञान से। दूसरा कारण यह है कि अवधि शब्द में मात्रायें थोड़ी हैं। अवधि की कितनी मात्रायें हैं? तीन। मात्रायें मायने जहाँ हस्त दीर्घ स्वरों के अनुसार प्रयोगकाल का माप हो जाये। हस्त स्वर में एक मात्रा है, दीर्घ में दो और संयुक्त व्यञ्जन आया, उससे पहले चाहे हस्त स्वर भी हो, उसकी दो मात्रायें—विसर्ग और अनुसार हो तो दो-दो मात्रायें हैं। यहाँ अ, व उत्तरवर्ती अ व ध उत्तरवर्ती इ—ये तीन मात्रा में स्वर हैं, इससे तो मनःपर्यय में बहुत मात्रा हैं, अक्षर भी हैं। केवल में भी ४ मात्रा हैं—के में दो हैं, व की एक, ल की एक, इस तरह वहाँ चार मात्रायें हैं। तो अवधि में मात्राओं के अल्प होने से भी अवधिज्ञान का पहले निपात किया। दूसरी बात यह है कि अवधि शब्द भी सुसंज्ञा वाला है, इकारान्त शब्द है तो इन तीन कारण से अवधि शब्द का पहले प्रयोग किया। देखो पढ़ते हैं ना ५ ज्ञान, मति श्रुत अवधि मनःपर्यय केवल—उनमें यह बतला रहे हैं कि इस क्रम से लोग बोलते क्यों हैं और ढंग से क्यों नहीं बोल उठते? उसका कारण बतलाया जा रहा है कि इन कारणों से इसका यह क्रम रखा है। अब इसके बाद रखा मनःपर्यय को। इसका कारण यह है कि अवधिज्ञान से मनःपर्ययज्ञान में विशुद्धि अधिक है। मनःपर्यय विशिष्ट ऋद्धिधारी मुनियों के ही होता है। उनमें से सभी मुनियों के नहीं, किन्तु जो विशेष संयत है और मनःपर्यय ऋद्धि प्राप्त हो गई है उनके ही मनःपर्ययज्ञान प्रकट होता है। तो अत्यन्त विशेष विशुद्धि होने के कारण याने सर्वाधिक ज्ञान से भी अधिक विशुद्धि ऋजुगति मनःपर्ययज्ञान में है। उससे अधिक विशुद्धि विपुलमति मनःपर्ययज्ञान में है। तो अवधिज्ञान से विशेष विशुद्धि होने के कारण अवधिज्ञान के सूत्र बाद मनःपर्ययज्ञान को रखा गया है और फिर मनःपर्ययज्ञान में विपुलमति के तो नियम हैं कि यह नियम से केवलज्ञान पायेगा, संसार से पार होगा। इतनी विशेष विशुद्धि होने के कारण मनःपर्ययज्ञान को अवधिज्ञान के बाद रखा।

अन्त में केवलज्ञान का सूत्र में प्रयोग करने का कारण—अन्त में केवलज्ञान रखा। इसका कारण यह है कि

ज्ञान के प्रकर्ष का पूर्ण अतिशय यहाँ ही है, इससे पहले सब छोटे ज्ञान कहलाते हैं, तब ही मनःपर्ययज्ञान हो जाने पर भी औदयिक भाव की अपेक्षा मनःपर्ययज्ञान के मालिक के अज्ञानभाव बताया गया है जहाँ तक केवलज्ञानावरण का उदय है वहाँ तक औदयिक, अज्ञानभाव बताया गया है। तो केवलज्ञान तो है एक ज्ञान का अत्यन्त प्रकर्ष और अतिशय का पद है और साथ ही मुक्त अवस्था हो जाने पर भी केवलज्ञान बना रहता है, अरहंत अवस्था में भी केवलज्ञान है और उसके बाद सिद्ध हो गए तो वहाँ भी केवलज्ञान रहता है। इस अतिशय के कारण केवलज्ञान को अन्त में कहा। और यही केवलज्ञान मुक्ति का कारण है। यद्यपि जीवनमुक्त अरहंत अवस्था में है, मगर सर्वथा मुक्त याने द्रव्यकर्म, भाव पर, नोकर्म इन सबसे छूटने की बात इस केवलज्ञान से ही तो हुई है, सिद्ध हुए हैं।

पांच ज्ञानों के समूह को ज्ञान कहे जाने वाले अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति—अब देखो एक बड़े काम का दार्शनिक विषय का जिक्र आयेगा, कुछ कठिन जरूर पड़ जायेगा, मगर थोड़ा साहस बनायें, सुनो तो कुछ-कुछ तो आयेगा ही समझ में और भी आये तो भी धैर्य रखें कि हम जैनशासन की ऐसी मर्म की बात सुन रहे हैं कि जो इतनी कठिन हो रही है। इतनी कठिनता तो अन्य किसी दर्शन में न मिलेगी। कथा है, कहानी है, चरित्र है, स्वरूप है, इसने किया, उन्होंने किया। देखो इस सूत्र में दो पद हैं—मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि और दूसरा पद है ज्ञान। इसका क्या यह अर्थ है कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान—इन पांच ज्ञानों का जो समूह है उसे कहते हैं ज्ञान। क्या यह अर्थ आपको जंच रहा है या यह अर्थ जंच रहा है कि मतिज्ञान ज्ञान है, श्रुतज्ञान ज्ञान है, अवधिज्ञान ज्ञान है, मनःपर्ययज्ञान ज्ञान है, केवलज्ञान ज्ञान है, ये दो बातें सामने रख रहे हैं। आपको क्या जंच रहा? देखो यदि समूह अर्थ लिया जाये कि इन ५ का जो समूह है वह ज्ञान है, इसमें कितनी आपत्तियां आती हैं? ५ ज्ञानों का समूह क्या किसी में मिलेगा? और जब न मिलेगा तो इसके मायने हैं कि जीव ज्ञान वाला नहीं है। केवलज्ञान तो ऐसा है कि जहाँ चार ज्ञान होते ही नहीं हैं, केवल एक ही रहता है—केवलज्ञान। तो केवलज्ञान फिर ज्ञान न ठहरेगा, क्योंकि जब यह अर्थ लगावेंगे कि ५ का जो समूह है सो ज्ञान है तो ठीक बैठा तो नहीं।

एक आत्मा में संभावित चार ज्ञान होने पर भी उपयोग की अपेक्षा एक समय में एक ही ज्ञान हो सकने से ज्ञानसमूह को ज्ञान कहे जाने वाले अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति—प्रथम चार ज्ञानों में अगर कहा जाये मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, इनका जो समूह है सो ज्ञान है। तो यहाँ भी ठीक नहीं बैठता। सभी जीव चार ज्ञान के धारी नहीं होते। कोई तीन ज्ञान के भी धारी होते, कोई दो के भी, एक बात। दूसरी बात यह है कि जिसके दो ज्ञान भी हैं, तीन हैं या चार हैं, उनके भी उपयोग में केवल एक ही ज्ञान होता है। लब्धि की अपेक्षा चार ज्ञान तक रह सकेंगे, मगर उपयोग की अपेक्षा तो एक ही ज्ञान रहता है। जब कोई अवधिज्ञान का उपयोग कर रहा है तो अवधिज्ञान ही है, तीन ज्ञान नहीं हैं उपयोग में। जब मतिज्ञान का उपयोग किया जा रहा है तो मतिज्ञान ही है, शेष ज्ञान नहीं। लब्धि अपेक्षा तो शेष ज्ञान है, मगर उपयोग की अपेक्षा प्रतिसमय किसी भी जीव को एक जीव को एक ही ज्ञान होता है, और इतना ही नहीं, एक ज्ञान में भी जो विषय नाना हैं उनके भेद से जिस विषय को लेकर ज्ञान हो रहा है उस विषय का ही ज्ञान है। शेष ज्ञान लब्धि में पड़े हुए हैं। जैसे

एक मतिज्ञान है, वह ५ इन्द्रिय और मन के द्वारा जानता है। उसकी ६ विधियाँ हैं, पर जिस समय यह चक्षुरिन्द्रिय द्वारा जान रहा है उस समय उसका उपयोग उस ही ज्ञान में है। आपको ऐसा लग रहा होगा कि इस समय तो हम सुन भी रहे हैं, देख भी रहे हैं और कुछ छू भी रहे हैं, बहुत से ज्ञान कर रहे हैं, कैसे कहा जा रहा है कि इस इन्द्रियज्ञान में भी जिस इन्द्रिय से ज्ञान हो रहा उस समय वही उपयोग है, दूसरा उपयोग नहीं। तो आपकी तो यह शंका हुई और हम आपको यह बात रखें कि यह तो बतलावों कि आप जो सोच रहे हैं कि एक ही बार में, एक ही समय में हमने ये अनेक ज्ञान कर लिये, तो आप इस समय जानते हैं क्या कि एक समय कितना कहलाता है? एक चुटकी बजायी तो उसमें अनगिनते समय होते हैं। उनमें से क्या आप एक समय में सब कर रहे हैं? अरे वे बहुत समय हो जाते हैं। तो ऐसा ही लगता है कि हम एक साथ सब कर रहे हैं। देखो कभी आप लोग तेल में बेसन की पपड़ियाँ बनाते हैं कड़ी-कड़ी और पूरी साबुत एक पपड़ी लेकर खाने बैठते, टुकड़े करके नहीं, करते ही हैं बच्चे लोग ऐसा। कड़ी-कड़ी पपड़ियाँ उठाकर खाने लगे, तो देखो उस समय चरचर हो रहा तो कठोर स्पर्श का ज्ञान भी हो रहा, हाथ में ले रहे कि यह जान रहे कड़ी कड़ी है। स्पर्श का भी ज्ञान कर रहे, और घी का बास तो तानिक देर में जाना जाता, मगर तेल की बास तो तुरन्त खूब जान जाते। तो देखो गंध का भी ज्ञान कर रहे, रस का भी ज्ञान हो रहा है, और आंखों से भी देख रहे तब ही तो हमने खस्ता पपड़ियों की बात कही, और कड़क की कड़-कड़ आवाज के शब्द भी सुनाई दे रहे हैं। तो यहाँ मोटे रूप से ऐसा लगता कि ये पाँचों ज्ञान एक साथ एक समय में हो रहे हैं, पर एक समय में नहीं होते। वह समय बहुत सूक्ष्म चीज है। अनगिनते समयों में वह सब होता रहता है, मगर वह सब चल रहा है उपयोग भ्रम वाला। जानते हैं वहाँ भी क्रम से, कभी इसे, कभी उसे। तो ऐसे ही एक विज्ञान में भी जब आपका स्पर्शनइन्द्रिय का उपयोग चल रहा है, स्पर्श का ही उपयोग है, अन्य का सब लिखरूप है, तो यह बात नहीं कह सकते कि इन ५ ज्ञानों के समूह को ज्ञान कहते हैं। इसमें तो बाधा है। तब यह कहना चाहिए कि मतिज्ञान ज्ञान है, श्रुतज्ञान ज्ञान है, अवधिज्ञान ज्ञान है, मनःपर्ययज्ञान ज्ञान है और केवलज्ञान ज्ञान है। इसको या समझिये कि जो यहाँ ज्ञान शब्द लगाया है तो यह समूह अर्थ में नहीं लगा, किन्तु प्रत्येक में लगा। कई बातें ऐसी होती हैं कि समूह पर लागू होती हैं, कई ऐसे वाक्य होते कि जो प्रत्येक पर लागू होते। जैसे मानो किसी मोहल्ले के लोगों ने अपनी गली बहुत गन्दी कर रखी तो वहाँ यह आदेश होता है कि इस मोहल्ले वालों पर १००) रु० जुर्माना। तो उसका क्या अर्थ है कि सभी लोग १००-१०० रुपये दें? वह एक सामूहिक बात है। अगर कोई कहे कि इस मोहल्ले वालों की पंगत करो तो क्या वह खाना सामूहिक होगा? वह तो प्रत्येक व्यक्ति का अलग-अलग में होगा। कहा दो व्यक्तियों का नाम लेकर कि फलाने चंद को, फलाने लाल को, अमुक प्रसाद को भोजन कराओ तो प्रत्येक के साथ भोजन किया लगेगी। तो जैसे इस भुजि किया का सम्बंध प्रत्येक के साथ लगा उसी प्रकार यहाँ मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय व केवल प्रत्येक के साथ ज्ञान शब्द लगेगा। इतना निर्णय हो गया। अब यहाँ एक बहुत विकट समस्या आती है, एक दार्शनिक समस्या कि भाई ज्ञानं शब्द तो सामान्य है और ये ५ हैं विशेष। क्या एक सामान्य इन ५ में एक साथ प्रवेश कर जायेगा? इस सम्बंध में एक बहुत विस्तृत शंका समाधान होगा, जो एक दार्शनिक विषय है, और इसमें आपको कई

उपयोगी बातें भी मिलेगी, जिसका वर्णन अब आगे करेंगे ।

**सामान्य की अनेकव्यक्तिव्यापिता**—“मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्” इस सूत्र में जो दो पद दिए हैं उनसे क्या जाहिर होता है, इस समस्या पर विचार चल रहा है । एक अर्थ तो यों हो सकता है कि मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल इन ५ ज्ञानों का समूह ज्ञान कहलाता है, और एक अर्थ यह हो सकता है कि मतिज्ञान ज्ञान है, श्रुतज्ञान ज्ञान है, अवधिज्ञान ज्ञान है, मनःपर्ययज्ञान ज्ञान है और केवलज्ञान भी ज्ञान है । इन दो में से यह तो अनिष्ट अर्थ है कि इन ५ का समूह ज्ञान है और इष्ट यह है कि यह भी ज्ञान, यह भी ज्ञान, ये ५ प्रत्येक ज्ञान हैं । ज्ञान शब्द इन ५ में प्रयुक्त होगा । यहाँ ज्ञान तो सामान्य है और ये ५ विशेष हैं । सामान्य अपने अनेक विशेषों में रहा करता है । तो प्रत्येक विशेष में सामान्य को बात बतायी जायेगी । जैसे मनुष्यसामान्य और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र या जो-जो भी और बातें बतायी जाये—मद्रासी, हिन्दुस्तानी, अमेरिकन, रसियन आदिक, तो रसियन भी मनुष्य, अमेरिकन भी मनुष्य और हिन्दुस्तानी भी मनुष्य । और मनुष्य है एक सामान्य शब्द । तो देखो मनुष्यसामान्य अपने विशेषों में रहा अथवा जैसे स्वर्ण के कई आभूषण हैं—कड़ा, कुण्डल आदिक । तो कड़ा भी स्वर्ण है, कुण्डल भी स्वर्ण है । तो स्वर्णसामान्य अपने विशेषों में रहता है, इसी तरह ज्ञानसामान्य अपने विशेषों में याने मति, श्रुत आदिक ५ भेदों में मिलते हैं ।

सामान्य की कथंचित् एकरूपता व कथंचित् अनेकरूपता होने से अनेकस्वाश्रयता की सिद्धि—ज्ञानसामान्य की अनेकज्ञानव्यापक्ता की बात सुनकर एक शंका आ सकती है कि इस तरह तो सामान्य अनेक हो जायेंगे । मतिज्ञान में भी ज्ञानसामान्य है, श्रुतज्ञान में भी ज्ञानसामान्य है सभी प्रत्येक में ज्ञानसामान्य है । तो यों सामान्य अनेक हो जायेंगे । तो उत्तर यह है कि हो जाने दो, कथंचित् सामान्य अनेक है, कथंचित् एक है । इनमें से एक किसी पक्ष का हठ किया जायेगा तो उससे वस्तु की सिद्धि नहीं होती । जैसे अगर वैशेषिकों की तरह यह एकान्त कर लिया जाये कि सामान्य एक ही होता है और अनेक अपने विशेषों में रहते हैं तो पहली बात तो यह है कि जो सर्वथा एक है वह अनेक में एक साथ कैसे रह सकता है? जैसे एक परमाणु अनेक स्कंधों में एक साथ कैसे रह सकता है? इसी तरह सर्वथा एक सामान्य अनेक विशेषों में कैसे रह सकता है? दूसरी बात यह जानें कि यदि सामान्य सर्वथा एक ही कहा जाये तो जैसे मनुष्य सामान्य है, अगर उसको एक ही कहा जाये सर्वथा तो जैसे मनुष्य बिखरे बैठे हैं दो-दो हाथ के अन्तर से तो मनुष्यसामान्य तो एक है, अब इस व्यक्ति में मनुष्यसामान्य है और जो बीच में अन्तराल पड़ गया वहाँ मनुष्यसामान्य है कि नहीं, यह बताओ? अगर कहो कि उस अन्तराल में मनुष्यसामान्य नहीं, उसे छोड़कर जो आगे बैठा है उसमें है मनुष्यसामान्य है तो सर्वथा एक मनुष्यसामान्य तो न रहा । अच्छा कोई यदि इस बातपर हठ करे कि सामान्य तो सर्वथा अनेक ही आन ले, जितने आदमी हैं उतने ही सामान्य हैं, तो ऐसा अगर अनेकपने को बात मानेंगे तो समानता फिर न रहेगी । तो समानता क्या, सामान्य क्या? तो सामान्य स्वरूपतः एक है और व्यक्तियों में रहने की अपेक्षा अनेक है ।

**ज्ञानसामान्य की स्वरूपतः** एकता व अनेकस्वाश्रय की अपेक्षा अनेकता—अब कुछ थोड़ी गहरी चर्चा आयेगी, मगर ऐसा समझो कि गहरी चर्चा भी सुनें, सरल भी सुनें तो उससे एक लाभ होगा कि गहरी चर्चा सुनने पर

थोड़ा तो कुछ बोध होगा, कुछ न होगा तो यह तो ध्यान में आयेगा कि जैनशासन में कितने गहन तत्त्वों का स्पष्टीकरण है? दूसरी बात—गहन विषय रोज-रोज सुनने पर सरल भी हो सकता है। तीसरी बात—अतीव सरल-सरल सुन करके लाभ क्या पावोगे? बात तो तत्त्व की, मूल की समझनी होगी। तो सब तरह की बात समझने का चित्त में साहस रखें। सामान्य ज्ञानसामान्य है और ये ५ हैं ज्ञानविशेष। ज्ञानसामान्य इन ५ ज्ञानों में रहता है अर्थात् यह भी ज्ञान है, यह भी ज्ञान है, ऐसी जो प्रतीति रहती सबको वह सिद्ध करती है कि सामान्य कथश्चित् अनेक है, कथश्चित् एक है। सर्वथा एक मानने पर जो सामान्य के अनेक आश्रय हैं, जिन विशेषों में व्यक्तियों में वह रहता है उनमें एक साथ रह सकने की बात कैसे बनेगी? और अगर कहो कि हम तो सामान्य को सर्वथा एक ही मानेंगे और वह क्रम-क्रम से रहेगा सबमें तो जिस वक्त मनुष्यपना रसियन में रहा तो उस समय बाकी लोगों में मनुष्यत्व बन ही न पायेगा और फिर सामान्य का यह स्वरूप ही नहीं है। सामान्य का अभाव हो जायेगा। सामान्य उसे कहते हैं जो एक होकर भी अनेक में एक साथ रहे। सो भैया! सामान्य एक तो है स्वरूप की अपेक्षा और अनेक है आधार की अपेक्षा। चूंकि उनका आधार, उनका आश्रय वे नाना हैं, इसलिए सामान्य कथश्चित् बहुत है और चूंकि स्वरूप सबका एक है, तो स्वरूपदृष्टि से सामान्य एक है। यहाँ यह शंका न रखना कि एक होकर बहुत कैसे हो जायेंगे? जो एक है तो एक है, जो अनेक है सो अनेक है। एक होकर भी अनेक बने, इसका क्या मतलब? इसका अर्थ यह है कि जैसे मनुष्यपना तो एक है ना, मनुष्य के स्वरूप में तो अन्तर नहीं है ना, इस अपेक्षा से तो एक है और वह बहुत व्यक्तियों में रहता है तो इस व्यक्ति में भी मनुष्यपना है, इस व्यक्ति में भी मनुष्यपना है और क्यों जी, बीच में जो समुद्र पड़े हैं वहाँ एक भी मानो मनुष्य नहीं पाया जाता है तो क्या वह एक टूट गया क्या? जो एक होता है वह तो अखण्ड होता है। एक का स्वरूप क्या है? जो अखण्ड हो उसे एक कहते हैं। जैसे टेबल रखी है, बतलावो यह एक द्रव्य है कि अनेक? मोटेरूप में कहेंगे कि एक चौकी है। अरे वस्तुतः देखो तो अनेक परमाणुओं का यह पिण्ड है, और तभी तो इसके टुकड़े हो जाते हैं। एक तखत चौर दिया तो दो हो गए, फिर चार हो गए, फिर अनेक हो गए, फिर उनके भी अनेक हिस्से करते जाइये। एक का कभी टुकड़ा नहीं होता। जो वास्तव में एक है उसका कभी दूसरा हिस्सा नहीं हो सकता। १०० पैसों का रुपया है तो रुपया अनेक वस्तु है, उसमें १०० पैसे हैं, और मानो व्यवहार में अगर उस पैसे के खण्ड भी होते तो जैसे पहले छदाम दमड़ी होती थी, छोटे से भी छोटा नाप हो उसका खण्ड नहीं होता। उसे एक यूनिट मान लेते हैं, एक के खण्ड नहीं होते। सामान्य यदि एक ही है तो उसके टुकड़े न होना चाहिए। इसलिए सामान्य प्रदेशतः एक नहीं है किन्तु स्वरूपतः एक है और वह एक बहुत व्यक्तियों में तादात्म्य रूप से रहता है, वह बहुत व्यक्तियों में यों ही नहीं रहता। रसियन का मनुष्य के साथ तादात्म्य है। यह नहीं है कि उसमें मनुष्यपना घुसा है इसलिये रसियन मनुष्य कहलाते हैं। विशेष में सामान्य का तादात्म्य है। उन व्यक्तियों में सामान्य का तादात्म्य है। तो इसी प्रकार जो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान मनःपर्यज्ञान, केवलज्ञान, ये ५ ज्ञान हैं। इन ज्ञानों में ज्ञानसामान्य का तादात्म्य है। अब इस समय थोड़ा ५-७ मिनट कुछ समझ में न आये तो भी धैर्य धारण करके सुनना।

सामान्यविशेषात्मक मानने में तादात्म्य अतादात्म्य का प्रसंग बनाकर उठाई गई शंका और उसका समाधान—इस प्रसंग में एक गहरी समस्या आती है। शंकाकार यहाँ यह कह सकता है कि देखो जब एक सामान्य अनेक में रह गया तो जैसे रसियन में भी मनुष्य का तादात्म्य है, इंडियन में भी। तो देखो मनुष्य का तादात्म्य रसियन में है। जिस स्वरूप से तादात्म्य उसमें है उस स्वरूप से तादात्म्य इंडियन में तो नहीं है। तो जिस स्वरूप को लेकर इस सामान्य का व्यक्ति में तादात्म्य नहीं है और जिस स्वरूप को लेकर सामान्य का व्यक्ति में तादात्म्य है—वे दोनों स्वरूप व्यक्ति से भिन्न हैं या अभिन्न? सामान्य से, भिन्न हैं या अभिन्न या परस्पर वे दोनों भिन्न हैं या अभिन्न हैं? एक शंका रख दी। देखो कभी भी किसी का मुख बंद करना हो चर्चा में तो उसके सामने एक प्रश्न यह रख दिया करो कि बताओ यह इससे भिन्न है कि अभिन्न? स्याद्वादी तो उस पर विजय पा जायेंगे, मगर एकान्तवादी तो वहाँ पराजित हो जायेंगे। समाधान में सोचिये—ऐसी शंका करने वाले अभी अनभिज्ञ हैं। वास्तविकता तो यह है कि जिस स्वरूप को लेकर भेद का व्यवहार किया जा रहा है, भेद कहीं अन्यत्र नहीं दिखता है, उस स्वरूप का ही नाम भेद है याने भेददृष्टि से सामान्य की बात बतायी गई है। यहाँ तादात्म्य है, यहाँ नहीं है, और जिस दृष्टि से अभेद की बात कही है वह स्वरूप अभेद है, पर एक बात तो बतायें शंकाकार कि शंकाकार ने भेद और अभेद की शंका उठा कैसे दी? मालूम होता है कि शंकाकार भेद और अभेद को स्वीकार तो कर रहा है तब ही तो उस आधार पर शंका की। तो यह बात सुनकर शंकाकार का दिल दहल गया। हम पर विपत्ति डाल दी। तो उसने कहा कि हम भेद अभेद—इन दो बातों को नहीं मानते, किन्तु दूसरे लोग मानते हैं, उनके मानने के आधार पर हम शंका कर रहे, तो कहा वाह, दूसरे के मानने के आधार पर बात कर रहे हो तो दूसरे का मानना स्वीकार है कि नहीं? अगर स्वीकार है तो झगड़ा मिटा, और अगर नहीं स्वीकार है तो फिर झगड़ा नहीं कर सकते। बात यह है कि एक ही जगह सामान्य और विशेष दोनों ठहरे रहते हैं। एक ही आदमी में मनुष्यसामान्य और व्यक्तिविशेष—ये दोनों बराबर है, उनमें कोई दोष नहीं आता। कोई कहे कि सामान्य और विशेष, जिनका स्वरूप जुदा-जुदा है तो ये एक साथ ठहर कैसे जायेंगे? अरे उनमें विरोध ही नहीं है। वस्तु एक है जीव एक है, मगर उसमें नित्यपना भी है, अनित्यपना भी है—ये दोनों एक साथ कैसे ठहर गए? ठहर गए, कोई विरोध नहीं। नित्य अनित्य विरोधी हैं या अविरोधी? कथश्चित् विरोधी हैं, कथंचित् अविरोधी। एक वस्तु में मिल गए इसलिए अविरोधी और स्वरूप उनका भिन्न-भिन्न इसलिए विरोधी। तो कहते- हैं कि विरुद्ध धर्म का एक वस्तु में अवस्थान होने को अनेकांत कहते हैं। यहाँ न अनवस्था दोष है, न विरोध आता है, न भिन्न-भिन्न आधार मानने का प्रसंग आता है। ठीक सीधे प्रतीति हो रही है कि वस्तु सामान्यविशेषात्मक है। यह भी एक विशेष है अन्यथा वस्तु तो अवक्तव्य है, जो है सो है, पर ऐसा कहने से गुजारा तो नहीं चलता है।

व्यवहार के बिना प्रतिपादन न हो सकने से तीर्थविच्छेद की आपत्ति—व्यवहार के बिना कुछ भी गुजारा नहीं चल सकता। बस एक वस्तु को मानते जाओ अवक्तव्य-अवक्तव्य तो क्या समझोगे? कहाँ समझावोगे? क्या चलोगे? व्यवहार का आश्रय लेना ही होगा। वस्तु सामान्यविशेषात्मक है। जितना प्रतिपादन होता है वह व्यवहार से ही होता है। परमार्थ गूँगा है। वह प्रतिपादन नहीं कर सकता। वह तो एक लक्ष्य में आने का

तत्त्व है। जितनी प्रवृत्ति है तीर्थप्रवृत्ति, जितना धर्म का प्रवाह है, जितनी परम्परा है वह व्यवहार द्वारा चलती है। परमार्थ का प्रतिपादक होता है व्यवहार। परमार्थ स्वयं अपना प्रतिपादक नहीं हो सकता। वह तो शुद्ध नय का विषय है, अखण्ड है, अवक्तव्य है। तो यह भी व्यवहार है कि वस्तु सामान्यविशेषात्मक है। मगर यह बतलाओ कि क्या यह बात असत्य है? है नहीं क्या सामान्यरूप, आत्मा? है नहीं क्या विशेषरूप आत्मा? नहीं है, ऐसा निषेध करके उस सामान्यविशेषात्मक विकल्प से अतिक्रान्त होकर अवक्तव्य तत्त्व में आने का पात्र न होगा। जो समझा वस्तु सामान्यविशेषात्मक है, अब उसमें विशेष को गौण कर सामान्य को मुख्य कर और आगे बढ़ते हैं तो सामान्य जब विकल्प से छूटता है तो दोनों से अतिक्रान्त होकर केवल एक शुद्ध ज्ञानमात्र स्थिति का अनुभव करता है। तो वस्तु सामान्यविशेषात्मक है। हर जगह घटाते जावो। इसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं आती।

अभेद और भेद के आधार पर द्रव्यार्थिक नय व पर्यायार्थिक नय का समर्थन—देखो मूल में नय दो होते हैं—  
(१) द्रव्यार्थिक नय और (२) पर्यायार्थिक, नय। इनका लक्षण यह बताया गया है कि जिसका प्रयोजन द्रव्य हो सो द्रव्यार्थिक नय जिसका प्रयोजन पर्याय हो सो पर्यायार्थिक नय। ऐसा लक्षण क्यों कहा? तो इन नयों के द्वारा जो कुछ है भी खोज करने की प्रचुरता है वह इसी विधि से है कि द्रव्य को देखो, पर्याय को देखो, पर इन नयों की मूल मंशा क्या है? इनकी मूल मंशा है अभेद और भेद। द्रव्यार्थिक नय का विषय है अभेद और पर्यायार्थिक नय का विषय है भेद। और देखो यह नयचक्र बड़ा गहन है, इसका पार होना कोई एक सामान्य गप्पों से नहीं बनता। कभी पर्याय भी द्रव्यार्थिक नय का विषय हो जाता है, कभी द्रव्य भी पर्यायार्थिक नय का विषय हो जाता है। कैसे? देखो जो कथन आये जो प्रसंग हो, वह प्रकरण, वह मूड इन नयों की जान बनाता है। ये नय खुद अपनी जान लिए हुए नहीं हैं। आशय ही नयों के प्राण बनाता है। जिस समय हम वस्तु में एक समय की पर्याय निरख रहे हैं तो वह पर्याय बतलाओ अखण्ड है कि नहीं? उस समय में और उसी अखण्ड पर्याय को जब हम भेद करके यह निरखेंगे कि यह ज्ञानगुण, दर्शनगुण व आनन्दगुण की पर्याय। जैसे स्वभाव में भेद करके गुण निरखे गए थे ऐसे ही एक समय की अखण्ड पर्याय के भेद करके यह अमुक गुण की पर्याय, यह अमुक गुण की पर्याय, ऐसा भेद देखेंगे तो सामने दो बातें आयेंगी—अखण्ड पर्याय और नाना पर्यायें। तो अखण्ड पर्याय तो है द्रव्यार्थिक नय का विषय और नाना पर्याय हैं पर्यायार्थिक नय का विषय। उन नयों का मूल आशय समझना चाहिए। इन नयों का आशय है अभेदनय और भेदनय। षड्खंडागम में सामान्य विवरण को द्रव्यार्थिक नय कह दिया और विशेष कथन को पर्यायार्थिक नय कह दिया, जहाँ सामान्य विवरण के बाद विशेष विवरण दिया। जैसे पहिले यह कह दिया जाये कि “ज्ञान पाँच प्रकार के हैं” और फिर कहा जाये “मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान व केवलज्ञान” और वहाँ कोई शंका करे कि “ज्ञान पञ्चविधम्” इससे ही सब जान लिया, फिर नामप्ररूपक सूत्र बोलने की क्या जरूरत, तो समाधान होगा कि द्रव्यार्थिकनय की रुचि वाले शिष्यों को पहिला कथन दिया है, अब पर्यायार्थिक नय की रुचि वालों को अगला कथन करते हैं। अच्छा, मानो कि सत्, सत् में देखिये—सर्व पदार्थों का संग्रह आ गया। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और ये समस्त अनन्त पदार्थों का समुदाय एक सत् में आ गया। सत् कहा और अब हम करते

हैं उसका भेद । जीव पुद्गल अणु, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य करें, भेद एक सामान्य-सामान्य रूप से ही, पर्याय को लेकर न करें, द्रव्य को लेकर कर लिया जाये तो अब यहाँ दो बातें सामने आयीं—(१) सत् और (२) जीवद्रव्य, पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य आदि ऐसी ६ बातें रखें । तो देखो सत् का जानना तो हुआ द्रव्यार्थिकनय से और उन ६ द्रव्यों का जानना हुआ पर्यायार्थिक नय से । अब बतलाओ उन ६ को पर्यायरूप से हाजिर नहीं कर रहे, हम कर रहे द्रव्यरूप से हाजिर, लेकिन यह भेद बनता वह अभेद है । जो अभेद हैं वह द्रव्यार्थिक और जो भेद है वह पर्यायार्थिक ।

अभेदनय और भेदनय इन मूल दो नयों के आधार पर समस्त प्ररूपण—नयों को पहिचानने की नीति का आधार अभेद और भेद है, द्रव्य और पर्याय नहीं । हाँ, द्रव्य और पर्याय जब सामने रखते हैं तो वहाँ द्रव्य अभेद है, पर्याय भेद है, इसलिए द्रव्य का बताना द्रव्यार्थिक नय है और पर्याय का बताना पर्यायार्थिक नय है । यह नय ऐसा एक समझाने वाला नय है कि जैसे परोपकार करने की जिसमें धुन सवार हो, मनुष्य में तो जैसे वह मनुष्य अपना कुछ न देखकर मुझे यह आफत आ गई कि यहाँ मैं पकड़ा जाऊँगा, मैं बरबाद हो जाऊँगा, मेरा यहाँ विनाश हो जायेगा, वह मनुष्य यह कुछ न देखकर अपनी धुन के अनुसार सबके उपकार में लगा रहता है, ऐसे ही यह नय ऐसा उपकारी है कि यह अपना विनाश भी नहीं देखता और यह भव्य जीवों को समझाने में इस तरह लगा रहता है । अभी देखो ना, जब बोला कि सत् तो यह है द्रव्यार्थिक नय से, और ६ द्रव्य हैं पर्यायार्थिक नय से । क्या जीव, यह पर्यायार्थिक नय हे? और बोल रहे जीवद्रव्य, मगर जब जीवद्रव्य और जीव के ज्ञानादिक गुण जब ये दो बातें सामने रखेंगे तो पर्यायार्थिक नय ने जिस जीवद्रव्य का समर्थन किया था अब यह पर्यायार्थिक नय गुणों का समर्थन करेगा और द्रव्यार्थिक नय जीवद्रव्य का समर्थन करेगा । तो नयों की बात किसी एक जगह जो लगावेंगे उसकी अपेक्षा कोई भेद या अभेद दिखा वह नय बदलकर दूसरे का समर्थन करने लगेगा । किसी एक जगह बोलकर उसी को पकड़कर रहेगा । तो वहाँ विसंवाद होता है । निर्विवादिता तो ज्ञानकला पर निर्भर है । यह नय तो यों निरन्तर नाच ही रहा है । जैसी दृष्टि करे वैसा नय खड़ा, जैसा आशय बनाया वैसा नय खड़ा । यह नयचक्र बड़ा गहन जंगल है । यों सामान्य रीति से इसका पार न पायेंगे । इसके लिये गहन तत्वाभ्यास, गुरुचरणप्रसाद व निष्पक्ष मनन चाहिये।

ज्ञानसामान्य बिना ज्ञानविशेषों का अभाव और ज्ञानविशेष बिना सामान्यज्ञान का अभाव हो जाने से ज्ञान के सामान्यविशेषात्मकता की तरह सर्वत्र सामान्यविशेषात्मकता की सिद्धि—यहाँ मूल चर्चा चल रही है ज्ञान और इन ५ विशेषों की । याने मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान । ये ५ विशेष ज्ञानमय हैं, और सभी जगहों में, सभी पदार्थों में आप निरखते जावो, सर्वत्र सामान्यविशेषात्मकता का परिचय मिलेगा । केवल सामान्य ही हो, विशेष झूठ हो, ऐसा सामान्य कुछ नहीं है, केवल विशेष हो, सामान्य कुछ न हो तो विशेष कुछ नहीं । देखो जिस घर में जब झगड़ा हो जायेगा और जिससे दिल लग गया तो वह आदमी कहता है कि है तो यह ही और बाकी तो हैं ही नहीं । बाकी मर गए क्या? अरे रह तो रहे घर में । अब तुम्हारा जिस तरफ दिल लगा तो कहते कि बस सत्ता तो है इसकी, बाकी तो मर गए । तो मर तो नहीं गए । अरे भाई, तुम्हारा दिल इस ओर लगा है तो लगा लो दिल, मगर मर गए का ख्याल न करो । वे हैं, जिन्दा हैं, पर

तुम्हारी दृष्टि इस ओर है सो प्रधान बन गया, और हम को हित यहाँ मालुम पड़ता है तो प्रधान बन गया । तब ही तो आचार्यों की पद्धति यह रही कल्याण में बढ़ने की कि व्यवहार का विरोध न कर, निश्चय का आलम्बन लेकर मोह को दूर करके, फिर निश्चय से भी अतिकान्त होकर अनुभव में पहुंच जाना । तो देखो सामान्यविशेषात्मकता के बिना वस्तु की सत्ता नहीं होती । वस्तु सामान्यविशेषात्मक है, इसमें कोई बाधक नहीं है । यहाँ तक आये ।

**सामान्यमात्रपरिच्छेदक या विशेषमात्रपरिच्छेदक ज्ञान की संभवता न होने से वस्तु की सामान्यविशेषात्मकता की सिद्धि—**अब कोई शंकाकार कहता है कि सुनो—अभी मामला खत्म न करो । वस्तु सामान्यविशेषात्मक है । इसमें बाधक प्रमाण है केवल सामान्यमात्र का ज्ञान करने वाला हमारा ज्ञान उसमें बाधक है । ऐसा कोई सामान्य को मानने वाला कह रहा है तो कह दो कि तुम अपनी मान्यता अपने घर में रखो, इसे कोई भी समझदार नहीं मान सकता । केवल सामान्यमात्र कोई वस्तु होती ही नहीं । सामान्यविशेषात्मक वस्तु में सामान्य को मुख्य करके जो बोध होता है उसको कहते हैं सामान्य का ज्ञान । सामान्य का ज्ञान करते समय केवल सामान्य का ज्ञान नहीं हो रहा, सामान्यविशेषात्मक वस्तु का सामान्य की प्रधानता से ज्ञान हो रहा, उसका अर्थ यह है । तो कोई एक वैशेषिक एकान्तवादी दार्शनिक बोलते हैं, ठहरो,

विशेष को जानने वाला जो ज्ञान है वह इस बात का बाधक है कि वस्तु सामान्यविशेषात्मक है । वस्तु तो केवल विशेष-विशेष मात्र है । तो कहते हैं कि तुम अपनी बात अपने मन में रखो । कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो केवल विशेष विशेषरूप हो और सामान्यरूप न हो । देखो जब कभी किसी वस्तु में विशेष अंश का बोध हो रहा है तो यह न समझो कि मात्र केवल विशेष का बोध हो रहा, किन्तु सामान्यविशेषात्मक वस्तु का विशेष धर्म की मुख्यता में बोध हो रहा । अब देखो यह बात यों कुछ जल्दी समझ में आयेगी । इसी मोक्षशास्त्र में द्वितीय अध्याय में जब कहा है कि मतिज्ञान इन १२ प्रकार का ज्ञान कराता है तो वहाँ झट आगे कह दिया अर्थरूप—जो पहले कहा है याने इन बारह प्रकार के पदार्थों का ज्ञान होता है सो बहु आदि का अलग से ज्ञान नहीं होता । कोई केवल अलग से बहु आदि का ज्ञान कर सकता क्या? कोई इन आदमियों को तो जाने नहीं और कह दे कि बहुत हैं । तो कोई पदार्थ से अलग समझ सकता है क्या? एक को या बहुविध को या किसी प्रकार को या मनुष्यसामान्य को? नहीं । सभी ज्ञान पदार्थ को ही जानते हैं । जो कोई जानता है वह कोई अलग से गुण को नहीं जान सकता, न अलग से पर्याय जान सकता, न कोई अलग से द्रव्य जान सकता, न अलग से कोई विशेष जान सकता, किन्तु पदार्थ ही इस-इस रूप में जानने में आ रहा है ।

**ज्ञानविषय की सामान्यविशेषात्मकता की भाँति ज्ञान की भी सामान्यविशेषात्मकता—**प्रमाण का विषय सामान्यविशेषात्मक वस्तु है । ज्ञान का विषय न सामान्य है, न विशेष है । जाना जा रहा है सामान्यविशेषात्मक पदार्थ और उसको जब इस सामान्य की प्रधानता से जानते हैं तो हमारे ज्ञान में सामान्य आ रहा । उस ही वस्तु को जब हम विशेष की प्रधानता से जानते हैं तो हमारे ज्ञान में वह विशेष आ रहा है । पदार्थ सामान्यविशेषात्मक ही होता है । तो प्रमाण में क्या बात लेनी है कि ये मति, श्रुत, अवधि आदिक ५ ज्ञान ये वानात्मक हैं और ज्ञान इन ५ को छोड़कर अलग कहीं रहता नहीं । सामान्य विशेष व्यापी होता है । तो वस्तु

सामान्यविशेषात्मक है। यहाँ यह निर्णय रखना चाहिए। देखो आप भी सामान्यविशेषात्मक हैं, हम भी सामान्यविशेषात्मक हैं और सिद्ध भगवान् ये भी सामान्यविशेषात्मक हैं। निगोद जीव, ये भी सामान्यविशेषात्मक हैं। अज्ञानी, ये भी सामान्यविशेषात्मक हैं। ज्ञान, यह भी सामान्यविशेषात्मक है। और सामान्य परखने की पद्धति है अभेद तथा विशेष परखने की पद्धति है भेद। अब अभेद एक दृष्टि से जो समझ में आया वह है सामान्य तथा विशेष दृष्टि से, भेददृष्टि से जो समझ में आया सो है विशेष। पदार्थ तो जो है सो है, अवक्तव्य है, हर प्रकार से परिचय करने के बाद वस्तु जब समझ में आती है तब विकल्प न करके केवल उस वस्तु को ज्ञान में ले वहाँ उसकी अखण्डता की सही प्रतीति होती है अन्यथा अखण्ड वस्तु को भी हम वचनों से बोलते जाये तो वह खण्ड ही हो रहा। वचनों से अखण्ड का, ज्ञान नहीं, किन्तु उसका परिचय होने पर सर्व नयवाद प्रमाण सब अतिक्रान्त हो जाये और एक केवल स्व निज लक्ष्य रहे तो निज की अखण्डता उसको मालूम पड़ती है। तो यहाँ इस प्रकरण में ज्ञानसामान्य के ५ विशेष बताये जा रहे हैं।

प्रकृतसूत्र के दोनों पदों के साथ एवकार की संभवता—जिस प्रमाण के द्वारा वस्तु का परिचय होता है उस प्रमाण का विवरण चल रहा है। प्रमाण कहो अथवा ज्ञान कहो, ज्ञान ही प्रमाण है। उसका विवरण इस सूत्र में किया गया है—मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्। अर्थ तो सामान्यतया यह है कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान यह ज्ञान है। देखो साधारणतया कुछ भी बोलते हैं, पर बोलने में एव का अर्थ छिपा हुआ रहता है, याने निश्चय के साथ जो बात बोली जाती है उसमें एव भी न लगाया जाये तो भी वहाँ एव मानने जैसा ही अवधारण बना हुआ है। अवधारण बिना कोई व्यवहार नहीं होता जहाँ कोई कहे कि बस अब हम मंदिर जाते हैं तो अवधारण तो हो गया, अब हम मंदिर जाते ही हैं, उसके अभिप्राय में न जाने क्या पड़ा हुआ है कि अब ही हम मंदिर जाते हैं अब। हम ही मंदिर जाते हैं, अब हम मंदिर जाते ही है, अब हम मंदिर ही जाते हैं, इतने शब्द बोले कि उन शब्दों के साथ ही लगाने से जुदे-जुदे भाव हो जाते हैं। अब यहाँ पर केवल ही की ही एक जिज्ञासा हो रही है। हम अवधारण कहाँ कर रहे? इसका अर्थ क्या यह लगायें कि मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल ही सामान्य ज्ञान हैं, या यह अवधारण बनाये कि मति, श्रुत अवधि, मनःपर्यय, केवल, ये ज्ञान ही हैं। इस तरह कहाँ एव लगाये। समाधान यह है कि दोनों जगह ही एव लग सकता है। जिस समय यह कहा कि मति श्रुत अवधि मनःपर्यय केवल—ये ५ ही ज्ञान हैं, उससे किसका व्यवच्छेद हुआ कि भाई जो कुमति, कुश्रुत, कुअवधि है, यह ज्ञान नहीं है। जब कभी ‘ही’ लगाते हैं तो किसी दूसरी बात का निषेध हुआ करता है। ‘ही’ निषेध करने वाला होता है अन्य का। तो जब यह कहा कि ये पाँचों ही ज्ञान हैं तो उसका अर्थ यह है कि कुमति, कुश्रुत, कुअवधि—इनमें सम्यग्ज्ञानरूपता नहीं है। यह सूत्र है सम्यग्ज्ञान के विशेष को बताने वाला, और जब यह अवधारण करते हैं कि मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल ये ज्ञान ही हैं, यहाँ ज्ञान के, द्वितीय पद के आगे एवकार मानते हैं तो उससे यह अर्थ ध्वनित होता है कि इन ५ में अज्ञानता जरा भी नहीं है। अज्ञानता होती है मिथ्यात्व के उदय होनेपर और ये जो ५ ज्ञान बताये गए हैं, ये होते हैं चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, ये तो चौथे गुणस्थान से लेकर १२ वें गुणस्थान तक होते हैं। मनःपर्ययज्ञान छठे गुणस्थान से लेकर १२ वें गुणस्थान तक होता है और

केवलज्ञान १३ वें, १४ वें गुणस्थान में होता है और गुणस्थान से अतीत जो सिद्ध प्रभु है उनमें भी होता है, तो दोनों जगह अवधारण की बात बोल सकते हैं। यहाँ कोई यह आशंका न रखे कि ऐसा कैसे होगा कि दोनों जगह एवकार रह सके। उसमें विरोध तो तब होता कि एक जगह एवकार लगाने से दूसरी जगह एव लगने से जो निश्चय होता उसका यहाँ विरोध करते तब तो विरोध हो। अगर ये एक दूसरे का विरोध नहीं करते तो दोनों ही जगह अवधारण होता है। जैसे एक सूत्र है जो आगे द्वितीय अध्याय में आयेगा—देवनारकाणाम् उपपादः याने देव और नारकियों के उपपाद जन्म होता है। इसमें दोनों जगह ‘ही’ लग जग जायेगा। देव नारकियों के ही उपपाद जन्म होता है तथा देव नारकियों के उपपाद जन्म ही होता है और उन अर्थों का कोई परस्पर विरोध नहीं है। इसी प्रकार यहाँ भी समझना। इस अवधारण से क्या समझा कि यह सूत्र जो है वह सम्यग्ज्ञान के भेद को बताने वाला है, न कि कुमति, कुश्रुत, कुअवधिरूप ज्ञानों को भी और प्रमाण भी यह ही है, क्योंकि जिस प्रमाण से हम वस्तु की जानकारी करते हैं उसी प्रमाण का वर्णन चल रहा है। कहीं कुज्ञान से जानकारी तो नहीं होती और साथ ही यह भी यहाँ निश्चय हो गया कि यहाँ मिथ्यात्व का उदय नहीं है। यह ज्ञान मिथ्यात्व के विच्छेद के बाद ही बनता है। तब यहाँ तक इतनी बात निर्णीत हो गई कि ये ५ ज्ञान विशेष ज्ञान हैं।

**मतिज्ञान का विवरण**—अब थोड़ा-थोड़ा इन ५ ज्ञानों के विषय में स्वरूप देखना। विशेष तब भी समझ लेंगे जब इसके भेद आयेंगे, इसके विषय बताये जायेंगे, वहाँ भी झलक आयेगी। सो अब क्रमशः देखिये पहले क्या कहा गया? मतिज्ञान। देखो यह चर्चा दूसरे की नहीं है हमारी आपकी खुद की बात है। हम आप जितना जो कुछ जाना करते हैं रात दिन वह मति और श्रुत द्वारा जानते रहते हैं। सर्वप्रथम इन्द्रिय और मन के निमित्त से जो जाना गया वह तो मतिज्ञान है और उसके बाद उसके विषय में जो विशेष समझा गया वह सब श्रुतज्ञान है। तो मति इतना ही शब्द दिया है। इतना शब्द देने से मालुम होता है कि स्मृति प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान—ये सब भी मतिज्ञान कहलाते हैं। अब देखिये मतिज्ञान का इतना प्रखर विस्तार है कि जो ऐसा लग रहा है कि इसमें तो बड़ा विचार किया जाना है तब यह ज्ञान बनता है। वह भी मनोविषयक होने से मतिज्ञान कहलाता है। मति के बारे में प्रसिद्ध तो यह ही है कि जो इन्द्रिय और मन से अभिमुख पदार्थ को जाने सो मतिज्ञान, सो इसका नाम गति नहीं है। इसका नाम है अक्षमति अथवा दूसरा नाम धरो अभिनिबोधिक ज्ञान। जो अभिमुख व नियत विषय को जाने उसे कहते हैं अभिनिबोधिक ज्ञान। जैसे चक्षु के द्वारा रूप ही जाना जा सकता है अन्य कुछ नहीं। घ्राण के द्वारा गंध ही, कर्ण के द्वारा शब्द ही और रसना के द्वारा रस ही। इसमें इन्द्रिय का विषय नियत है और यह नियत विषय को ही जानता है और सामने आया हुआ अभिमुख आये हुए को ही जानता है, इसलिए इसका नाम है दूसरा अभिनिबोधिक ज्ञान। यह सब ज्ञान की चर्चा है। एक ज्ञान की समस्या हल हो जाये तो सब हल हो जाये। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और मेरे ज्ञान के ऐसे-ऐसे परिणमन होते हैं। इतनी ही बात तो समझने की है, वही यहाँ कहा जा रहा है। ज्ञानसामान्य के मायने तो हैं वह एक ज्ञानशक्ति, ज्ञानस्वरूप और ज्ञान विशेष के मायने हैं कि इसका परिणमन इसकी परिणतियां क्या-क्या हुआ करती हैं?

**वस्त्वंश सामान्य व विशेष का सामान्यविशेषात्मक वस्तु में अभेद व भेददृष्टि द्वारा परिचय—पदार्थ में सामान्य**

और विशेष कुछ अलग से पड़े हुए नहीं हैं। पदार्थ तो पदार्थ ही है। जब हम सामान्यरूप से देखते हैं तो हमें सामान्य का बोध होता है, विशेषरूप से देखते हैं तो हमें विशेष का बोध होता है। सामान्य स्वतंत्र तत्त्व नहीं है, विशेष स्वतंत्र तत्त्व नहीं है। जैसे कि द्रव्यत्व और गुण, पर्याय ये कोई स्वतंत्र सत् नहीं हैं। एक अर्थ है, और उस अर्थ को, उस ही पदार्थ को जब हम भेद द्रव्यार्थिक नय से देखते हैं तो गुण समझ में आया। अंशग्राहक पर्यायार्थिक नय से देखते हैं तो गुण समझ में आया। पर्याय का अर्थ केवल परिणमन ही नहीं है। पर्याय, भेद, अंश ये सब एकार्थवाचक शब्द हैं। तो जब हमने अंश देखा पर्यायार्थिक नय से देखा तो गुण समझ में आये और जब हमने परिणमनवाचक पर्यायार्थिकनय से देखा तो पर्याय समझ में आयी। कहीं वस्तु में द्रव्यत्व स्वतंत्र सत् हो, गुण स्वतंत्र सत् हो, पर्याय स्वतंत्र सत् हो, ऐसा नहीं है। अगर स्वतंत्र सत् है तो आप जानते हैं कि सत् में ६ साधारण गुण होते हैं—अस्तित्व, वस्तुत्वादिक। तो क्या पर्याय में ६ साधारण गुण है या पर्याय क्या उत्पादव्ययधौव्ययुक्त है? तो यह ही लक्षण है सत् का—उत्पादव्ययधौव्ययुक्त सत्। अगर गुण सत् है तो क्या वह उत्पादव्ययधौव्ययुक्त है? अगर गुणा सत् है तो क्या अस्तित्व आदिक साधारणगुण वाला है। उन गुणों में एक प्रदेशवत्व गुण आया तो क्या गुण प्रदेशवान् है और क्या पर्याय प्रदेशवान् है, क्या द्रव्यत्व प्रदेशवान् है? अरे वह अर्थ प्रदेशवान् है, वस्तु प्रदेशवान् है जिसमें हम नयों के द्वारा द्रव्यत्व, गुणत्व और पर्यायत्व निरखते हैं? तो यह नयचक्र बड़ा गहन है और जिसको ज्ञानकला से अपने आपमें ज्ञान की लीला करने का अभ्यास बन गया है अर्थात् एक वस्तु के परखने के ज्ञान की नीति रीति भली प्रकार आयी है तब ही इस नयचक्र में प्रवेश हो सकता है।

यह सब निश्चय और व्यवहार बदलते रहने वाली चीज है। जैसे जब हम बोलते हैं कि यह जो पर्याय दिखती मनुष्य, तह जीव है तो यह तो व्यवहारनय से हुआ ना और इसकी तुलना में द्रव्यार्थिकनय से क्या हो गया याने निश्चय से कि जो क्रोध, मान, माया, लोभ का आधारभूत है ऐसा जो कोई जीव है वह जीव है। अब मुकाबला देखते जाना, जहाँ एक द्रव्य व्यञ्जन पर्याय रूप में पेश किया गया, इस मनुष्यपर्याय को सामने रखा तो उसके मुकाबले में क्रोधी, मानी, मायावी, लोभी जीव निश्चयनय का विषय बन गया, और जब इसके मुकाबले विचारादि वाले ज्ञान की परिणतियों वाला मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, यह है जीव, इसको रखा तो कषाय वाला जीव है यह व्यवहार से बन गया आर मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी जीव है यह निश्चयनय से बन गया। और जब एक ज्ञानसामान्य को सामने रखा तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, यह व्यवहारनय से कहा गया और ज्ञानसामान्य यह निश्चयनय से कहा गया और जब एक अखण्ड चित्तवस्तु को निरखा तो उसके सामने जीव में ज्ञानस्वभाव है यह व्यवहारनय का कथन बन गया और अखण्ड एक चिदात्मक वस्तु जो लक्ष्य में आयी वह निश्चय का विषय बन गया। हाँ, शुद्धनय एक ऐसा है कि जो बदलता नहीं है, बाकी के निश्चयनय व्यवहारनय बनते जाते हैं, पर मूल में जो शुद्धनय है वह किसी भी समय व्यवहारनय का रूप नहीं रखता है, उसका विषय है अखण्ड चिदात्मक वस्तु तो मूल तो सबका वही है। अब उपाधि संसर्ग है तो इस उपाधि का जितना क्षयोपशम हो रहा है उतना यहाँ मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान आदिक ये प्रकट हो रहे हैं। देखो—सम्यग्ज्ञानी पुरुष आत्महित की आकांक्षा रखने वाला पुरुष

इतना सुलझा हुआ है, इतना निर्विवाद होता है कि उसको कहीं शल्य, पक्ष, हठ, कषाय, आग्रह आदिक का स्थान नहीं होता, क्योंकि उसके लिए सारा यह चैतन्यलोक, यह जीवलोक, परमात्मस्वरूप में दिख रहा है। जिसे अपने आपके बारे में निर्णय है कि हूँ तो यह मैं सहज परमात्मतत्त्व रूप, यहाँ अपराध कहाँ, यहाँ से विवेक कार्य प्राप्त हो लेगा।

नयों में प्रतिपक्षनय की बात में विधि या निषेध द्वारा दखल न देकर अपने विषय को निरखने की नीति—देखिये—शुद्धनय में निर्णय की बात नहीं कही जाती, निर्णीत सार का लक्ष्य किया जाता है। निर्णय करने वाला व्यवहारनय होता है। नय तो एक विषय को देखता है, निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों की बात करेगा। दोनों की रक्षा वह करता है, क्योंकि व्यवहार ही परमार्थ का प्रतिपादक है। जहाँ ऐसे निर्णय की बात मिल गई वहाँ आपको व्यवहार नय का प्रयोग देखना होगा। व्यवहारनय में कई कलायें होती हैं, निर्णायकता है और एक द्वैत पक्ष का दर्शक है। इसकी अनेक कलायें हैं और निश्चयनय की केवल एक कला है। एक द्रव्य को देखना। देखो जब जिस नय से देखते हैं जब जिस नय का प्रयोग करते हैं उस समय हम प्रतिपक्षनय का विरोध करते हैं तो हम उस नय के उपयोग को गंदा कर देते हैं। किसी भी नय का प्रयोग, किसी भी नय की दृष्टि प्रतिपक्षनय का विरोध नहीं करती, किन्तु अपने विषय को ही दिखाती है। नयों का काम है कि नय अपने विषय को दिखाये। प्रतिपक्षनय का विरोध करे यह नय का काम नहीं है। और जब नय के नीति की ईमानदारी हम खो बैठते हैं तब विवाद होता है। हम किसी नय से बात कहें और प्रतिपक्षनय का उसके साथ हम विरोध रखें या प्रतिपक्षनय के विषय की बात भी उसमें लगायें तो हम वहाँ उस नय का, सही उपयोग नहीं कर सकते। अरे नयों की इस नीति के अनुसार जो नयवाद के विषय में पड़ेगा उसका जीवन बड़ा सुलझा हुआ रहेगा, और जहाँ उपयोग सुलझा हुआ है, जिसके उपयोग में किसी भी नय का पक्षपात नहीं है वही जीव तो समयसार बनने के योग्य है। जो नयपक्ष से अतिक्रान्त है, उसी को समयसार मिलता है। जब जिससे देखें तब उसके विषय को बेधङ्क देखें, पर अभिप्राय में प्रमाण के विरुद्ध न चले तो सर्व बातें निभती जायेगी।

सांसारिक सुख से विमुख होकर ज्ञानानन्दस्वभावी अन्तस्तत्त्व के अभिमुख होने का कर्तव्य—सर्व ज्ञानों का प्रयोजन क्या है? सो आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने बताया कि जो जीव आत्मा को अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य आदिक रूप में अनुभव कर लेता है वह समस्त जैनशासन को जानता है। समस्त जैनशासन का प्रयोजन यह है कि भव्य जीव अपने आपको अच्छा बना ले याने ये निराकुल हो जायें, संसार परिभ्रमण से छूट जायें, ऐसी अपनी स्थिति पा लें, बस यह ही सब समझने का प्रयोजन है। तो देखो खूब आनन्द से रहें, मौज किया, धन वैभव जोड़ा इसी को ही सर्वस्व मानते रहे, पुत्र, मित्र, स्त्री, कुटुम्ब पक्ष, पार्टी दोस्ती आदिक इन सब बातों में ही उलझे रहे तो देखो जीवन की गाड़ी तो बड़ी वेग से जा रही है। कुछ ही दिनों में यहाँ से कूच करना पड़ेगा। अनेक उलझनें, अगर अपने उपयोग में डाल रखीं तो उससे जो हम कल्याण से वंचित रहे तो इसकी पूर्ति कोई दूसरा कर न जायेगा और न अब भी पूर्ति कर सकता है। अपनी जिम्मेदारी अपने आप पर समझें और अपने आपको ऐसा एक समर्थ समझे कि मैं ही तो अपनी गुत्थियाँ सुलझाता हूँ, अपने को गुत्थियों में उलझाता हूँ। मेरे में तो वह सामर्थ्य है कि किसी का सहारा लिए बिना भी यदि हम वास्तव में पर को पर जानकर

उससे विरक्त हो गए हैं तो एक अपने आपके परमविश्राम के बल पर हम अपने आप में सम्यग्ज्ञान प्रकट कर सकते हैं। अपने आप पर बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। अगर इसको न संभाला और मोह राग के ही चक्र में रात दिन रहे तो यह बहुत महंगा पड़ेगा। विषय भोगना सरल है सस्ता है, मगर ये कितने महंगे पड़ते हैं? एक भव में मौज ले लिया और खूब मौज से, आनन्द से रहे, इन्द्रिय विषयों की प्रीति में ही समय गुजारे और मरकर गधा सूकर कीड़ा मकौड़ा आदि कुछ बन गए तो फिर क्या करेंगे और मानो एकेन्द्रिय हो गए। असंज्ञी बन गए तब फिर वश क्या चलेगा? तो वर्तमान में जो मनुष्यभव पाया है वह क्या इसलिए है कि खूब धन वैभव जोड़ ले? क्या इसलिए है कि इन ५ इन्द्रिय के विषयों का खूब मौज लूट लें? क्या इसलिए है कि धर्म के मामले में विवाद, चर्चा, प्रसंग, कषाय आदिक में अपना जीवन उलझाकर गुजार दें? किसलिए जीवन है सो बताओ? जीवन है एक ऐसा रास्ता पाने के लिए कि जिससे हम अपने आपके स्वभाव में मग्न हो सके, वह मार्ग मिलेगा निष्पक्षरूप से लाने और वृत्ति होने पर, उसके लिए तत्वाभ्यास करें, सत्संग करें, अनुभवी पुरुषों की उपासना में रहकर उनके अनुभव का क्रम आप निरखिये, मात्र वचनों से नहीं, प्रवृत्ति से, व्यवहार से, देखने से अनेक तरह से एक अनुभव की बात आवे। भैया! सब कुछ कर डालो एक अपने इस सहज ज्ञानघन की उपासना के लिए। उसी ज्ञान की इस सूत्र में चर्चा चल रही है कि ये ज्ञान ५ होते हैं—मतिज्ञान आदिक। मतिज्ञानादिक ये विशेष बताने के दो काम हैं—एक तो सच्ची समझ बनावे और एक जो झूठी समझ है उसे दूर करें। झूठी समझ क्या है? सो निरीक्षण कीजिये।

अनुमान आदि प्रमाण माने बिना इन्द्रियप्रत्यक्ष के भी प्रमाणत्व की असिद्धि का प्रसंग—कोई दार्शनिक ऐसे हैं कि जो केवल अक्षमति को मानते हैं, इन्द्रियों द्वारा देखा, जाना, समझा बस यही सब कुछ है, अन्य कुछ है ही नहीं। और इसके सिवाय, इस ज्ञान के सिवाय और कोई ज्ञान ही नहीं, और कोई प्रमाण ही नहीं। प्रमाण केवल एक है। जो इन्द्रियजन्य मतिज्ञान को ही मानते हैं ऐसे दार्शनिकों का नाम क्या है? लौकायतिक अथवा चारुवाक्। लौकायतिक के मायने यह हैं कि जैसा लौकिकों का आचरण है वैसा ही जिनका आचरण हो उनका नाम है लौकायतिक। मायने जैसे दुनिया मोह में लग रही है, कुछ आगे पीछे की नहीं सोचते, मिलना चाहिए इन्द्रियविषय, आनन्द सुख, बस ऐसी जिनकी दृष्टि है, ऐसा ही प्राय। सारा लोक है, उनकी ही तरह जिनका आचरण है वे है, लौकायतिक अथवा चारुवाक्। चारु कहते हैं सुन्दर को, जिनकी वाणी बड़ी सुन्दर लगे। अगर स्वच्छन्दता की विषयमोगों की बात कह दी जाये तो सबको रुचती है ना? और उन विषयों में स्वच्छन्दता में धर्म बता दिया जाये तो उसके अनुयायी बहुत हो सकते ना, वे तो चाहते ही हैं, स्वभाव ही उनका यह है कि स्वच्छन्दता की ओर विषयों की ओर लगे और किसी का उपदेश स्वच्छन्दता को बताते जाये। चारुवाक् यह ही तो बतलाते हैं खूब खाओ, पियो, मौज उड़ाओ यह ही धर्म है। अरे मरने के बाद कौन देख आया कि फिर आगमन होता कि नहीं। ऐसा उपदेश देते, जिनके गुरु का नाम है बृहस्पति। चारुवाक् के गुरु का नाम है बृहस्पति। बृहस्पति का यह उपदेश है—खूब खाओ पियो, मौज उड़ाओ, यह ही धर्म है। तो ऐसे आशय वाले दार्शनिक कहते हैं कि प्रमाण तो बस एक है यह इन्द्रिय प्रत्यक्ष (अक्षमति) जो इन इन्द्रियों से देखा जा रहा, समझा जा रहा वही तो है, बाकी और कुछ नहीं। तो ऐसे हैं कुछ दार्शनिक जो केवल एक मति को ही

मानते हैं। मति के जो और भेद हैं स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क आदि उनको भी नहीं माना, फिर श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान की तो बात क्या? मगर अन्य प्रमाण माने बिना इस इन्द्रियप्रत्यक्ष को भी वे क्या सिद्ध कर सकते? इन्द्रिय प्रत्यक्ष कैसे प्रमाण है? तो लौकायतिक कहते हैं कि वाह, इसमें कोई विसम्बाद ही नहीं होता है। यह इन्द्रियप्रत्यक्ष प्रमाण है, क्योंकि विसम्बाद का अभाव होने से याने संवादक होने से। जो हम देखते हैं, जानते हैं इसमें तो कहीं विवाद ही नहीं आ रहा है इसलिए प्रमाण है। तो भाई यह ही तो अनुमान बन गया। जहाँ यह सिद्ध किया कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण है, संवादक होने से याने विसम्बाद विवाद न होने से, लो ये हेतु आ गया, साध्य आ गया, प्रतिज्ञा बन गई, अनुमान हो गया। हो गया ना अनुमान प्रमाण तो मति के अनर्थान्तर में जो अनुमान है वह प्रसिद्ध हो गया।

स्मृति तर्क आदि प्रमाण माने बिना इन्द्रियप्रत्यक्ष व अनुमान के प्रमाणत्व की सिद्धि की अशक्यता—कोई दर्शन कहता है कि चलो ये तो दो तरह के प्रमाण मान लो इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनुमान और कुछ नहीं है। अच्छा तो वे यह बतलाते हैं कि अनुमान जो किया है, जैसे किसी पर्वत में धुवाँ देखा और धुवां देखकर ज्ञान होता कि यहाँ अग्नि है धुवाँ होने से तो यह अनुमान बना कब? तब बनता कि जब इसका वह स्मरण भी हो गया कि जहाँ-जहाँ धुवाँ होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। हमने यह बात दसों जगह देखी है, उन दसों जगहों का स्मरण होता है तब ही तो यह तर्क बनता है, तो स्मृति भी आयी कि नहीं? तर्क भी प्रमाण है, और ये सब बातें तब होती हैं जब प्रत्यभिज्ञान हो। मैंने वहाँ देखा था, मैं वही देख रहा हूँ, तो ये सारे ज्ञान बराबर प्रमाण हैं। इसमें किसी का विरोध करना बनता नहीं। एकान्तवादी दार्शनिकों का जो मंतव्य है उसका निराकरण हो जाता है इस भेद को बताने से। तो मति शब्द से कितनी बातें लेना? मति, स्मृति। स्मरण भी ज्ञान होता कि नहीं? ख्याल आता, याद आती। प्रत्यभिज्ञान भी होता, तर्क व अनुमान भी है। यह सब उन पर्यायों की बात कह रहे हैं जो हमारे ज्ञानसामान्य को उपादान करके परिणमन करते हैं कर्मविराम के अनुसार। जो विशेषों को परखते हैं वे विशेषों में रहने वाले सामान्य को सुगमतया स्पष्ट रखते हैं। जैसे जो आदमियों को जानता है, कितने आदमी, ऐसे लोग, वह इनमें रहने वाले मनुष्य सामान्य को भी समझ लेता है।

विशेष अथवा व्यक्तियों को माने बिना सामान्य की सिद्धि की असंभवता—व्यक्ति को जाने नहीं, सामान्य-सामान्य की बात करे तो उनका सामान्य ऐसा है जैसे कि एक हौवा डराने का। यह ही तो चला नित्यत्व एकांतवाद में। केवल सामान्यतत्व को रखा—सर्व वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन। और कुछ है ही नहीं। तो जब उस ब्रह्म का, उस तत्व का, उस पदार्थ का कुछ परिणमन ही नहीं माना तो वह क्या है? कोई सत् है क्या? सत् नहीं। पर्यायशून्य कोई सत् नहीं होता। केवल एक मन बहलाने का ही है वह ब्रह्म। मन बहलाने का ही है वह सामान्य, जहाँ कि विशेष का निर्णय नहीं है। और विशेष का विरोध करके सामान्य को तका जा रहा है वह केवल हौवा मात्र है चीज कुछ नहीं है। मगर आप कहेंगे कि प्रभाव तो पड़ता है। जिस समय हम अकेले सामान्य-सामान्य की बात करते हैं तो उसका असर तो होता है। हाँ-हाँ असर तो यहाँ बच्चे को भी होता है, जब माता रोते हुए बच्चे को धमकाती है कि तू चुप हो जा, नहीं तो हौवा आ जायेगा, तो वहाँ वह बच्चा चुप हो जायेगा। तो क्या किसी किस्म का असर हो जाने से हौवा सत् हो गया? क्या पदार्थ हो गया?

एक कल्पना की चीज मात्र है। ऐसे-ऐसे दार्शनिक लोग हैं कि जो अपने ग्रन्थों में पेज के पेज में ऐसी शब्द छटा दिखा जायेंगे कि जिसका अर्थ लगाने में बड़ा दिमाग लगेगा। उनका अर्थ करने में बड़ा जोड़, समय व चित्त लगेगा और उसका उसमें चित्त लगा तो बाहर की बातें कुछ भूल गए तो एक विलक्षण दशा वहाँ भी होगी और वहाँ पदार्थ को बताया ही नहीं गया। तो बात कहने की सारभूत यह है कि निर्णय सब सही बनावें और ऐसी ही दृष्टि रखने में हमारा आत्महित होता है, ऐसी परख बनाकर उसकी मुख्यता ऐसी करें कि अपना कल्याण हो। सत्य का विरोध कर आगे बढ़ना श्रेय नहीं किन्तु जो प्रयोजनवान नहीं है ऐसे असत्य की अपेक्षा कर प्रयोज्य सत्य की दृष्टि लगाकर आगे बढ़ने में श्रेय होता है।

**मतिज्ञान का विस्तार—**जिन प्रमाणों से वस्तुस्वरूप की जानकारी होती है उन प्रमाणों का विवरण यह चल रहा है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान—इन ५ ज्ञानों द्वारा, प्रमाण द्वारा वस्तु की जानकारी होती है, जिनमें से मतिज्ञान के विषय में ही कुछ प्रकरण चल रहा है। जहाँ मति शब्द दिया इसमें केवल इन्द्रिय प्रत्यक्ष ही ग्रहण न करना, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान—इन प्रमाणों को भी ग्रहण करना यह सब मतिज्ञान ही कहलाता है। अब थोड़ा ऐसा सोचना बन रहा होगा कि अनुमान तो बिना विचारपूर्वक नहीं चलता है और जब उसमें बड़ी तर्कणा होती है तब सिद्ध होता है, यह बात मतिज्ञान तो न कहलायेगा? हाँ कहलायेगा। अनुमान प्रमाण जब तक स्वार्थ रहता है तब तक कहलाता है मतिज्ञान और जब परार्थ होता है तब कहलाता है श्रुतज्ञान। जैसे आप कहीं चले जा रहे हैं और सहज ही आपको कहीं धूम दिख गया, अग्नि जान गए, ज्ञान में ऐसी बात आ गई। अब जब हम उसमें व्यासि लगायें, दूसरों को बताये समझायें, साधन साध्य का प्रयोग करें वह सब श्रुतज्ञान है। तो मतिज्ञान का कितना बड़ा विस्तार है यह आप अंदाज कर लो। इसका बहुत विवरण तो तब आयेगा जब इसके भेद बताये जायेंगे। और तब ध्यान में आयेगा कि मतिज्ञान का जो इतना बड़ा विस्तार है, अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, इतना बड़ा जो विस्तार है मतिज्ञान का उसमें से जो असंज्ञी जीव हैं एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी जीव तक, उनके अवग्रह नामक मतिज्ञान होता है। ईहा, अवाय, धारणा विशेषतया वहाँ से शुरू हो जाता है जहाँ से मन शुरू होता है। अब आप समझो कि मन वाले पुरुष को कितना परिचय होता है और अवग्रह में चार संज्ञाओं की मदद से कितना बड़ा बोध होता है?

**असंज्ञी जीवों के संज्ञाबल विशिष्ट अवग्रह मतिज्ञान की लीला—**चींटी शक्कर पर पहुंच जाये, चले फिरे, रास्ता बन जाये। जब चीटियों का रास्ता बनता है तो चाहे मिलेटरी के जवान लाइन छोड़ दे, मगर उन चीटियों की लाइन जरा भी इधर-उधर नहीं होती। वहाँ से भी चींटी आ रही, यहाँ से भी जा रही, रास्ते में मुठ भेड़ हो गई या भेट हो गई, थोड़ा रुकना भी हो गया, फिर वह आगे बढ़ गई। यों कितने ही बड़े-बड़े काम हो रहे हैं। और मन उनके है नहीं। मन के बिना भी ये सब काम करती हैं। आखिर हैं तो ये जीव भी ईश्वरस्वरूप ही। गये बीते हों तो भी क्या? संज्ञाओं के बल से उनके इतने बड़े काम हो जाते हैं, और वे सब इस तरह बन गए जैसे मान लो एक प्राकृतिक काम हुए। वे चीटियाँ क्या कुछ बुद्धि लगाती हैं कि मेरा घर इतना अच्छा बने? मगर आपने देखा होगा कि नीचे के कण ऊपर ला लाकर एक अपना घर सा बना लेती हैं, और ऐसा

घर बना लेती हैं कि कहो वैसा आप भी न बना पावे । निम्न पर्याय होने पर कितना विस्तार है इस ज्ञान का? कितना ही कर्म से आच्छन्न हो गया यह जीव, फिर भी ज्ञानावरण का निमित्त इतना निमित्त नहीं बन सकता कि इस ज्ञान का सर्वापहार हो जाये । जो निगोद जीव हैं वहां भी यह ज्ञान चमक रहा है वह अक्षर के अनन्तवे भाग, मगर ज्ञान न रहे बिल्कुल, ऐसा कहीं नहीं हो सकता । हां तो देखिये—इस मतिज्ञान में कितने ज्ञान आ गए? इन्द्रियप्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान ।

गृहीतग्राही बताकर श्रुतज्ञान को अप्रमाण बताने की शंका का निराकरण—यहां एक शंका हो सकती है कि स्मरण जब होता है तो उस ही चीज का स्मरण होता है जिसको हमने पहले देखा हो, सुना हो, परिचय किया हो । अज्ञात का स्मरण तो होता नहीं । कोई न कोई विधि से कभी भी किसी भी समय चाहे पूर्वभव में भी जाना, कल परसों जाना, पर जाना हो तो स्मरण होता है । तो शंकाकार यहाँ यह कह रहा कि पहले प्रमाण से जिसको हमने ग्रहण कर लिया था उसी को ही स्मरण ने जाना तो स्मरण ने किया क्या? ग्रहण किए को ही जाना । और ग्रहण किए हुए को ग्रहण करे उसे कहते हैं ग्रहीतग्राही, और ग्रहीतग्राही ज्ञान अप्रमाण होता है । कैसे अप्रमाण? ऐसा अंदाज कर लो कि जैसे किसीने न जाना कि यह घड़ी, अब १० मिनट तक घड़ी घड़ी घड़ी ऐसा वह करता रहे तो उसे तो लोग पागल कहेंगे, क्योंकि वह ग्रहीतग्राही ज्ञान चल रहा । ग्रहीतग्राही ज्ञान अप्रमाण होता है । तो स्मृति ने जब पहले ग्रहण किए हुए को ही जाना तो ग्रहीतग्राही होने से अप्रमाण क्यों न हो जायेगा? क्यों उसको महत्त्व देते? एक यह शंकाकार की शंका है । अब समाधान में सोचे—देखो—अगर प्रमाण से ग्रहण किए हुए को पुनः प्रमाण से जाना जाये और उसे अप्रमाण कह दें तो सब कुछ अप्रमाण हो जायेगा । जो जिसको प्रमाण कहता है वह भी अप्रमाण हो जायेगा । कैसे? जो लोग मानते हैं कि इन्द्रियप्रत्यक्ष ही प्रमाण है और जब उनसे पूछो कि इन्द्रियप्रत्यक्ष ही प्रमाण है यह तुमने कैसे जाना? तो वे कहेंगे कि सम्वादक है, विसम्वाद नहीं होता, सही परिचय कर रहे हैं इसलिए प्रमाण है । तो देखो अनुमान का रूप बन गया । इन्द्रियप्रत्यक्ष प्रमाण है, क्योंकि सम्वादक होने से, विसम्वाद का अभाव होने से । देखो यह जो अनुमान बना रहे हो वह प्रमाण है कि अप्रमाण? अगर कहो कि अप्रमाण है तो अप्रमाण का जो विषय है वह भी अप्रमाण हो जाता है । इस अनुमान से इन्द्रियप्रत्यक्ष की प्रमाणता सिद्ध की जा रही है और अनुमान हो गया खोटा तो इन्द्रियप्रत्यक्ष प्रमाण है—यह बात न घटी मानना पड़ा ना और कहो कि नहीं, अनुमान प्रमाणरूप है तो हम कहेंगे कि गृहीतग्राही हो गया, क्योंकि अनुमान तर्क प्रमाण से गृहीत विषय को ग्रहण करता, प्रमाण कैसे हो गया? याने जिस इन्द्रियप्रत्यक्ष से सब कुछ समझा उसी के बारे में अनुमान बोला जा रहा है । जिसको जो कोई कुछ समझे उस शब्द द्वारा समझा गया ग्रहीतग्राही हो गया तो ऐसा गृहीतग्राही होने से अप्रमाण नहीं होता, किन्तु उतना का ही उतना गृहीत का ग्रहण चलता रहे, उस विषय में कोई रंच भी परिवर्तन न हो तो वह न्याय से गृहीतग्राही होने से अप्रमाण माना गया है याने गृहीत और अगृहीत दोनों का जहाँ ग्रहण हो रहा है वहाँ गृहीतग्राही का दोष नहीं होता और जहाँ केवल गृहीत अंश का ही ग्रहण किया जा रहा है दूसरे ज्ञान से न कम, न बढ़, न बदलकर, उसे अप्रमाण कहेंगे, और लोग पागल भी कहेंगे । जो बात कहते उतने को ही बारबार कहा गया । तो अब इस कुञ्जी से सोचो कि मतिज्ञान ने जो ग्रहण किया उसको स्मरण ने जाना तो

क्या उसी ढंग से जाना जैसे मतिज्ञान ने जाना? नहीं। जैसे मान लो आपका कोई कानपुर में रहता है और यहाँ बैठे हुए ही आपने उसका स्मरण कर लिया। घर का बच्चा है, उसे आपने देखा ना घर में। तो जो इन्द्रियप्रत्यक्ष हो उससे इसमें विशेषता है ना। आज के विषय में विषय भी बदला हुआ है, पद्धति भी बदली हुई है, वह एक देश प्रत्यक्ष है। यह स्मरण परोक्ष है। यद्यपि इन्द्रियप्रत्यक्ष भी परोक्ष ज्ञान है, लेकिन इसको एकदेश प्रत्यक्ष कहते हैं और स्मृति है परोक्ष, इतना तो अन्तर है। गृहीतग्राही बताकर इसे अप्रमाण कहें, वह बात ठीक नहीं। गृहीत को जाना, मगर उसका विषय बदलता है। यह बात सब जगह चलती रहेगी, सिद्ध होता रहेगा।

गृहीतग्राही बताकर केवलज्ञान को अप्रमाण कहने की शंका का निराकरण—गृहीतग्राहिता का अभाव केवलज्ञान में घटाना जरा कठिन पड़ जायेगा। कह सकते हैं कि बस केवलज्ञान में जो तीन लोक, तीन काल सब कुछ जब जान लिया पहले समय में और दूसरे समय में वही जाना, न कम न बढ़, क्योंकि असत् को जाने तो वह बढ़ जायेगा और कोई सत छूट जाये जानने से तो वह कम हो जावेगा। सो तो नहीं है तब केवलज्ञान गृहीतग्राही ही हो जायेगा अप्रमाण, ऐसी शंका का समाधान यह है कि ज्ञेय पदार्थ क्षेत्र व काल से परिवर्तित होते हैं, सो ज्ञेय के परिवर्तन से ज्ञेयाकार परिवर्तित है, किन्तु है ज्ञान उतना है। देखो यद्यपि समस्त त्रिलोक, त्रिकालवर्ती ज्ञान में आ रहा, यह जो विषय बदलता रहता है। पदार्थ क्षेत्र से क्षेत्रान्तर है, काल से कालान्तर है, अन्तर तो होता है। जो आज भविष्य है वह कल वर्तमान है, तो जब ऐसा कालपरिणमन और क्षेत्रपरिणमन इन वस्तुओं में चल रहे हैं और केवलज्ञान का विषय है एक तो जैसा काल विच्छिन्नतया पहले जाना वही तो न रहा, एक बात। दूसरी बात केवलज्ञान में प्रमाण अप्रमाण की प्रमुखता मत दें। प्रमुखता वहाँ दी जाती है जहाँ प्रमाण की प्रतिपक्षता की संभावना साथ लगी रहती है। उससे किया निर्णय। सभी ज्ञान संवादक हैं, प्रमाण हैं। उनका काम उनके साथ है, तथापि निर्णायक श्रुतज्ञान है, निर्णायक मतिज्ञान है, निर्णायक क्षायोपशमिक ज्ञान है। वह तो एक सहज प्रतिभास मात्र है। है मगर प्रमाण। मगर हम आप सबको प्रमाणता जहाँ खोजनी है वहाँ तो गृहीतग्राही नहीं कहलाता। जहाँ ग्रहीत के साथ अगृहीत भी जाना जा रहा है वह गृहीतग्राही नहीं कहलाता।

अपनी बात की चर्चा—मतिज्ञान के सम्बन्ध में जरा कुछ वर्णन के बाद अब श्रुतज्ञान के बारे में कुछ विचार करें। श्रुतज्ञान, 'श्रुत' ऐसा कहने से बना क्या, मिला क्या, समझा क्या? देखो यह चर्चा हम आपकी चल रही है। मतिज्ञान श्रुतज्ञान है ना, वह हम आपके रहता है और उसकी हम बात बोल रहे, वह तो लग रही कठिन और कहीं परकीय चर्चा करें तो वह लगेगी सरल। यह कैसे भेद पड़ गया? अभी कुछ गहनों का जिक्र करें, कुछ बाहरी साज शृङ्खार का जिक्र करें तो वह जल्दी समझ में आ जाती है, पर की बात तो झट समझ में आ जाती है और स्व की बात, मति, श्रुतज्ञान की बात समझना कठिन लग रहा है। ऐसा न बनाओ चित्त। देखिये ये जो शृङ्खार होते हैं वे क्यों होते हैं? क्यों करते हैं शृङ्खार? कान में ततैया जैसा गहना? मस्तक में मकड़ी जैसी टिकली, नाक में मक्खी बैठ गई ऐसी पुङ्ज़इया, कमर में सांप जैसी करधनी आदि जो अनेक प्रकार के शृङ्खार के गहने चले हैं तो उनका प्रयोजन क्या है? तो शृङ्खार का प्रयोजन यह है कि हमारा रूप

अच्छा नहीं है तो जरा अच्छे जंचने लगे । हमारी शोभा नहीं है, गंदा शरीर है, अपवित्र है तो जरा सुहावना लगने लगे । मूल प्रयोजन शृङ्खार का यह है । इसको खूब खोज करके समझलो । भले ही वह कुछ और प्रक्रिया में आ गया, पर शृङ्खार का जो आविष्कार सर्वप्रथम हुआ होगा वह इसी प्रयोजन को लेकर हुआ होगा, ऐसा हमारा कुछ आभास है । तो यह शरीर तो गंदा है ही, अगर थोड़ा यह सोच लें कि इस मुख को देखकर कुछ अच्छा भी लगता तो थोड़ा इस पर भी विचार कर लो कि इस नाक, मुख, आंख, कान आदि के अन्दर भरा क्या है? अगर इस पर कुछ ध्यान चला जाये तो शायद इस शरीर के प्रति अभी उपेक्षा हो जाये । कदाचित् नाक से जरासी नाक खिसक पड़े तो सारे सौन्दर्य में बाधा आ जायेगी ।

तो इस शृंगार को ऐसा समझो कि यह तो एक इस अपवित्रता की प्रक्रिया है । यह शरीर गंदा है, अपवित्र है, विनाशीक है । तो उसकी यह प्रतिक्रिया कि चमकते हुए मोती के दाने अगर नाक पर धर लें तो इसकी पोल ढक जायेगी । यह जो शरीर में अपवित्रता की पोल भरी है, इसके ढकने के लिए ही मानो ये साज-शृंगार के साधन बने हैं । देखो हम यहाँ यह नहीं कह रहे कि सब लोग गहने उतारकर फेंक दे, वह जब एक रूढ़ि बन गई, वैसी बात चल रही तो वैसा थोड़ा तो करना ही पड़ता है, मगर भीतर में यह विश्वास बनायें कि इसमें मेरा शृंगार नहीं है, मेरा शृङ्खार है ज्ञान, ध्यान, संयम, तपश्चरण आदिक से । अब बतलाओ, जो लोग शरीर को बड़ा सुकुमाल प्रकृति का बना लेते हैं—हम से रात को भोजन न छूटेगा, पानी न छूटेगा, एकाशन न बनेगा....., अरे वे इस शरीर को कितना ही लाड़-प्यार करके रखें, मगर मरण होगा तो वह बच जायेगा क्या? और शरीर को बड़े तपश्चरण में लगावें अपनी शक्ति अनुसार, तो उससे कुछ भाव विशुद्ध हैं, उससे कुछ लाभ भी मिलेगा । तो भाई इस शरीर को सुकुमाल प्रकृति का न बनावें, कष्टसहिष्णु बनावें और आत्मा का शृंगार श्रद्धान, ज्ञान, आचरण से है । हो सके तो बतावो जिससे कि भव-भव के संकट दूर हों । तो हम यह चर्चा कर रहे हैं इस जीव की, आत्मा की, खुद की । वहाँ भीतर में क्या गुजर रही है? बतलाओ इस समय सुन रहे न, कुछ जान भी रहे, तो जो तुम भीतर कर रहे उसी की बात कह रहे यह है मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ।

**श्रुतज्ञान की अनिवारित प्रमाणता—श्रुतज्ञान ज्ञान ही है** । पहले कहा था ना कि अवधारण दोनों तरफ लगता है, श्रुतज्ञान ज्ञान ही है, अज्ञान नहीं है, क्योंकि मिथ्यात्व का संसर्ग नहीं है । यह सम्यग्ज्ञान की बात चल रही है, उसे श्रुतज्ञान बोलते हैं । जब-जब श्रुतज्ञान बोला तो सम्यक्श्रुतज्ञान यह समझ लो । तो जो लोग श्रुत को अज्ञान मानते हैं, अप्रमाण मानते हैं, ऐसे दार्शनिकों के मंतव्य का श्रुत शब्द देने से निराकरण होता है इस सूत्र द्वारा । श्रुतज्ञान प्रमाण है, क्योंकि वह अपने विषय में सम्वादक है, सच्ची ज्ञानकारी देता है । श्रुतज्ञान वास्तव में तो कुछ है ही, क्योंकि उस प्रकार ज्ञान किया जा रहा है । मतिज्ञान से ज्ञान विषय में ज्ञान का वैसा विशेष परिणमन है और फिर जो लोग कुछ शब्द बोलते हैं उसका नाम भी श्रुत है, शब्द श्रुत है और जो शास्त्र में लिखा है उसका भी नाम श्रुत । कोई पूछे कि अच्छा हम लेखा-जोखा रखते हैं, बहीखाता रखते हैं यह भी श्रुत है कि नहीं? तो हैं तो यह भी श्रुत, मगर इस श्रुत की बात नहीं कह रहे, यहाँ सम्यक्श्रुत की बात कह रहे । यह न सोचना कि हमारी बही को भी श्रुत बता दिया तो ठीक है, हम तो उसकी रात-दिन खूब उपासना कर ही रहे हैं (हंसी), किन्तु श्रुतज्ञान ही अपने विषय में सम्वादक है, इस कारण से वह प्रमाण है । श्रुत को कौन

प्रमाण नहीं मानता? जो नहीं मानता उसे भी आखिर अपने शास्त्र को प्रमाण मानना पड़ेगा तब इष्ट सिद्ध होगा। बहुत से दर्शनिक हैं? चारुवाक् जिन्होंने केवल एक इन्द्रियप्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना उन्होंने भी श्रुतज्ञान तो किया, उसके लिए स्मृति आदिक भी चाहिये। सो सब कर तो रहे, अपने शास्त्र भी बताते, पर उनको प्रमाण कहने में शर्म आती है। बौद्ध लोगों ने प्रत्यक्ष व अनुमान दो प्रमाण माने हैं, वे भी आगम को प्रमाण नहीं मानते। अब विडम्बना की बात देखिये—जोश में आकर शास्त्र सामने धर देंगे कि देखो यह लिखा है। जब चर्चा चलती होगी, कोई बात कहनी होगी तो अपना शास्त्र जो कुछ होगा उसको दिखाकर कहेंगे कि देखो यह लिखा है। देखो व्यवहार में तो आगम प्रमाण का व्यवहार बना रहे, और कहते कि प्रत्यक्ष व अनुमान यह ही प्रमाण हैं। आगम प्रमाण नहीं। तो ऐसे जो-जो भी दर्शनिक आगम को प्रमाण नहीं मानते वे अपने इष्ट प्रमाण को भी सिद्ध नहीं कर सकते। श्रुतज्ञान प्रमाण है।

**श्रुतज्ञान की प्रमाणता के विषय में शंका व समाधान—शंकाकार कहता है कि हम तो यह देखते हैं कि कोई-कोई बात अप्रमाण भी नजर आती है शास्त्र में आगम में। अब जो यों समझ लो चाहे वह परम्परा से चला आया हुआ न हो, किसी ने कुछ ऊपरी बात मिला दी हो, कैसे ही समझ लो, शंका तो हो सकती, विसम्बाद तो होता है। हम तो देखते हैं पुराणों में, शास्त्रों में कि कोई बात विवाद की भी रखी रहती है। प्रमाण कैसे मानें? अच्छा, तुम इस सारे श्रुतज्ञान को प्रमाण कहते हो तो देखो इन्द्रियप्रत्यक्ष से भी हम जिस चीज को जानते हैं उसमें भी हम धोखा खाते कि नहीं! कई जगह धोखा खाते यहाँ भी देखो—थी तो रस्सी और समझ गए साँप तो यहाँ भी यह कह दो फिर कि इन्द्रियप्रत्यक्ष अप्रमाण हो गया। यदि कहो कि कहीं विसंवाद है तो इससे कहीं यह बात तो न हो जायेगी कि सारे इन्द्रियप्रत्यक्ष अप्रमाण हो जायें। तब ऐसा यहाँ भी समझ लो कि यदि कोई स्थल विसंवादापन्न है, कोई बात अगर अप्रमाण है तो उससे कहीं सब बातें तो अप्रमाण न हो जायेंगी। यहाँ एक निर्णय बनाना चाहिए। जो आप हैं, सर्वज्ञ हैं उसकी मूल धारा से चला आया हुआ जो वचन है वह कभी भी अप्रमाण हो ही नहीं सकता। निर्णय करो कि यह तो अमुक अल्पज्ञ था, असंयमी था उसने बनाया है। इससे फर्क पड़ा है। अभी आप देखो संयमी पुरुषों के द्वारा जो रचना होगी वह दूसरे ढंग की होगी और जब असंयमी के द्वारा रचना होगी तो थोड़ा भीतर के उपादान की योग्यता के संस्कार के कारण वचनों की टोन में, अर्थ में भेद आ जायेगा। आप ध्यान दो, अच्छा और भी आप देखो। जैसे जो गुड़ खाता है उसके लिए कहा जाये कि महाराज हमारे बच्चे को गुड़ का त्याग करा दो, तो उसका त्याग कराना बड़ा कठिन हो जाता है। एक कथानक है ऐसा कि जब किसी ने कहा कि महाराज आप हमारे बच्चे को गुड़ के त्याग का नियम दिला दे, तो उसने कुछ सोच विचारकर कहा—अच्छा १५ दिन बाद दिलायेंगे। अब उसने खुद १५ दिन तक साधना करके गुड़ का त्याग कर दिया। उसके बाद उस बच्चे को गुड़ के त्याग का नियम दिया। किसी ने कहा महाराज आपने १५ दिन पहले नियम क्यों न दिया था? तो बताया कि हम खुद गुड़ खाते थे इसलिए नियम न दिया था। तो यह प्राकृतिक बात है कि आप जिस किसी की बात करेंगे, आपका जैसा उपादान होगा। अनेक नियंत्रण होने पर भी वैसा व्यवहार बन पड़ेगा। किसी की समझी हुई बात को आप बहुत बतायेंगे। देखो आप ऐसा कहना कितना ही समझाये जाने पर भी, आप जब दूसरे को वह बात**

कहने जायेंगे तो आप अपने उपादान के अनुकूल कोई एक छटा जरूर लगा देंगे । होता ही है ऐसा । आपने किसी नौकर को भेजा कि जावो उससे अमुक बात कह आओ, उसे खूब समझा दिया । खूब समझने के बाद भी क्या वह आप जैसा समझा सकेगा? नहीं समझा सकता, क्योंकि उसका उपादान ही और ढंग का है । बात में शब्दों का हेरफेर करेगा, हेरफेर न भी करें तो टोन तो बदल ही जायेगा, तो प्रयोजन यह है कि हम को अगर कहीं विसम्बाद हो गया तो हमें मेल मिलाना चाहिए कि मूल आप्त सर्वज्ञदेव की जो धारा चल रही है उससे मिलती हुई बात है या नहीं? मिलती हुई बात नहीं है तो आप यह समझ लो कि ये हमारे ऋषि संतों के वचन नहीं हैं, ये तो कोई ऊपर से लगा दिए गए हैं । कहीं आगम में कोई बात अप्रमाण की मिल जाये, कहीं एक जगह विसम्बाद हो तो उससे कहीं सारी जगह विसम्बाद नहीं करार किया जा सकता । अगर ऐसा करार कर दिया जाये तो समस्त इन्द्रियप्रत्यक्ष भी अप्रमाण हो जायेगा, क्योंकि इन्द्रिय से हमने मानो १०० बातें देखी और उनमें से कोई एक दो बातें गलत निकल गई तो उसमें कहीं यह नहीं करार किया जा सकता कि इन्द्रियप्रत्यक्ष अप्रमाण है ।

**क्वचित् विसंवाद होने से सर्वत्र अप्रमाणता का अनियम—शंकाकार** ने कहा था कि श्रुतज्ञान अप्रमाण है, क्योंकि किसी जगह उसमें विसम्बाद भी देखा जा सकता है, तो ऐसा कहने वाला शंकाकार अभिज्ञ नहीं है । हो सकता है कहीं विसम्बाद, मगर कहीं एक जगह विसम्बाद हो जाने से कहीं वह श्रुत अप्रमाण नहीं हो गया । देखो जैसे मतिज्ञान के द्वारा हम जान लेते कि यह तालाब है और हमें पानी पीना हैं तो झट पहुंच जाते हैं और पुस्तक के द्वारा आप जान जायें कि इस जगह नदी है तो आप नदी पर भी पहुंच जाते हैं । तो जैसे मतिज्ञान से जान करके उसके अर्थक्रिया होती है उसी प्रकार श्रुतज्ञान से जानकर भी अर्थक्रिया होती है । इसलिए यह श्रुतप्रमाण है, क्वचित् विसंवादक होने से अप्रमाण नहीं है, क्योंकि उसमें मिलान करेंगे तो निर्णय हो जायेगा—वीतराग ऋषिजनों द्वारा प्रणीत है आगम तो उसमें अप्रमाणता का अवकाश नहीं, मगर पंडित लोग भी तो ग्रन्थ रखते ही हैं और विद्वान् भी रखते ही हैं, उनमें अगर कहीं विसम्बाद हो गया तो कहीं उसके मायने यह नहीं हैं कि वह भी सब अप्रमाण है । जहाँ विवाद हो वहाँ मिला लो । आर्ष में तो विवाद नहीं, किन्तु जो अनार्ष है उसमें विसम्बाद हो सकता है । सो जहाँ सर्वज्ञता की धारा से मिलान करता हो वह प्रमाण है और जहाँ मिलान न खाये वह प्रमाण नहीं है । तो कहीं कुछ अंश मिलान न खाने से, उसका कुछ अंश प्रमाण न होने से यह नहीं करार किया जा सकता कि समस्त श्रुतज्ञान अप्रमाण है । मतिज्ञान की भाँति श्रुतज्ञान भी संवादक है, इस कारण यह श्रुतज्ञान इन ५ सम्यक्ज्ञान के विशेषों में सम्मिलित किया है । जैसे मतिज्ञान प्रमाण है वैसे ही श्रुतज्ञान भी प्रमाण है । कहीं विसम्बाद आने से समस्त श्रुतज्ञान अप्रमाण नहीं हो गया । तो देखो श्रद्धा की बात बतलाते हैं कि जिनवाणी के वचनों में जो शंका करे सो जैन नहीं है । जिन कौन? जिसने रागद्वेष को जीता वह जिन, अरहंतदेव, जिसने रागद्वेष पर विजय किया वे आचार्य उपाध्याय और साधु । इनकी परम्परा से चला आया हुआ जो आगम है उसमें कभी भी शंका न करनी चाहिए । कदाचित् अतिरिक्त शास्त्रों में कहीं विसम्बाद हो तो उतने के कारण सबको अप्रमाण करार न करना । जैसे इन्द्रियप्रत्यक्ष से हमें कई चीज़ अप्रमाण जंची तो सारे इन्द्रिय प्रमाण अप्रमाण नहीं होते । तो जो श्रुतज्ञान की प्रमाणता नहीं मानते हैं उनका

निराकरण इस श्रुतज्ञान के कथन से हो जाता है ।

मति, श्रुतज्ञान के स्वामियों का कुछ दिग्दर्शन—बतलाओ कितने ज्ञानों की बात चली अब तक? दो ज्ञानों की—(१) मतिज्ञान की और (२) श्रुतज्ञान की । ये सब संसारी जीवों में पाये जाते हैं, अरहंत के केवलज्ञान है । एक जो मुनि महाराज हों और मनःपर्ययज्ञान के धारी हों । आजकल तो मनःपर्ययज्ञान के धारी मुनि न हो सकेंगे, परमावधि व सर्वावधि ज्ञान के धारी नहीं हो सकते, हाँ देशावधि सम्यग्ज्ञान के धारी अब भी हो सकते हैं । पर प्रायः सबमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान पाया जा रहा है । जो मनःपर्ययज्ञान के धारी हैं उनके भी मतिज्ञान व श्रुतज्ञान जो अवधिज्ञान के धारी हैं उनके भी मतिज्ञान व श्रुतज्ञान, जिनके ये नहीं हैं उनके भी मतिज्ञान व श्रुतज्ञान, और जिनके मन नहीं है उनके भी मति, श्रुत, है वह अज्ञान, वह इस प्रकार का श्रुतज्ञान कि जहाँ विवेकरहित है, हिताहित का ज्ञान नहीं, ऐसे ही उस मति से सम्बंधित कुछ विशेष ज्ञान हैं उस ज्ञान में, और इसी तरह उन असंज्ञी जीवों के सम्भव है । जब श्रुतज्ञान है तो कोई न कोई उनमें ईहा अवाय होगा, मगर उनका ईहा अवाय जैसे श्रुतज्ञान स्पष्ट नहीं, ऐसे ही ईहा अवाय भी स्पष्ट नहीं । संज्ञाओं के बल पर जितना ज्ञानविकास होता है उतना वहाँ ज्ञानविकास होता है । यों इस प्रकरण में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान का वर्णन किया ।

अवधि, मनःपर्यय व केवलज्ञान में ज्ञानत्व की सिद्धि—मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्, इस सूत्र में मति और श्रुतज्ञान के बारे में कुछ वर्णन हुआ था । अब यह जिज्ञासा हो रही है कि अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान इनके वचन से क्या बताया गया, क्या किया गया है, इसका क्या तात्पर्य है? तो इन तीन बातों के बारे में अब कुछ वर्णन किया जा रहा है, ये तीन ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान हैं । प्रत्यक्ष क्या? आत्मा का ही सहारा लेकर जो उत्पन्न हो उसे प्रत्यक्ष कहते हैं । अक्ष के मायने इन्द्रिय भी है और अक्ष के मायने आत्मा भी है । जो व्याप जाये उसे अक्ष कहते हैं । जो व्याप जाये, ऐसा जगत में कौनसा तत्त्व है? देखो विलक्षणता आत्मा में है कि यह ज्ञान निश्चयतः तो आत्मा के प्रदेशों में ही रहता है, मगर इसकी लीला की, इसकी वृत्ति की जब प्रशंसा करते तो ऐसा ही कहने से समझ में आता कि यह ज्ञान तीनों लोकों में व अलोक में फैल गया । व्याकरणशास्त्र से एक मर्म आप और जान लेंगे कि प्रायः करके जितनी धातु गमन होने के अर्थ में हैं उन्हीं धातुओं का अर्थ प्रायः जानना भी है । जाना और जानना दोनों की, वाचक प्रायः एक धातु होती है । इससे व्यावहारिक रूप विदित होता है कि यह ज्ञान ऐसा जाता है कि जिसकी तरह और कोई चीज जा ही नहीं सकती । ऐसा लोकालोक में व्यापक होता है । बस ज्ञानमय आत्मा है, अपना आत्मा भी ऐसा, जाता है कि लोकालोक को व्याप जाता है, इसी कारण इसे अक्ष बोलते हैं अर्थात् आत्मा का सहारा लेकर जो ज्ञान उत्पन्न हो उसे कहते हैं प्रत्यक्ष ज्ञान । सूत्रकार उतने ही शब्दों को सूत्र में लगाते हैं कि जिसके बिना प्रतिपाद्य का प्रतिपादन नहीं हो सकता । तो उनके सूत्र में जो कुछ भी शब्द हों, वे निरर्थक नहीं होते, उनका बाच्य अर्थ है, । तो सूत्र में ही अवधि, मनःपर्यय, केवल शब्द दिया है, उससे सिद्ध होता है कि वे ज्ञान ही हैं और अनुमान से यों है कि इसके विरुद्ध कोई प्रमाण नहीं आ सकता, जो इन ज्ञानों का अभाव सिद्ध कर दे ।

अवधिज्ञान व मनःपर्ययज्ञान के अस्तित्व की सुगम सिद्धि—भला जब ज्ञान में इतनी सामर्थ्य है कि यह स्वतंत्र हो जाये, पर संसर्गरहित हो जाये, केवल रह जाये, तो तीन लोक तीन काल के समस्त सत् इसके ज्ञेय हो

जाते हैं, ऐसा जब केवलज्ञान सिद्ध है तो केवलज्ञान से थोड़ा ज्ञान हो तो उसमें क्या आपत्ति? वे ही हो गए मनःपर्यय और अवधिज्ञान। आखिर प्रत्यक्ष की पद्धति ही तो है—केवलज्ञान बड़ा है, जहाँ इतना बड़ा ज्ञान सम्भव है वहाँ अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान की सम्भवता में क्या संशय? वास्तव में यह अपना प्रभु, परमात्मा मानो प्रति समय, तैयार बना रहता है प्रकट होने के लिए और इसको शान्त निराकुल बनाने के लिए। किन्तु कोई इसका आदर ही न करे, तो वहाँ इसका वश नहीं चलता। जब वह सहज परमात्मतत्त्व स्वरूपतः ऐसा परविविक्त है और अपनी सारी शक्तियों में तन्मय है कि यह तो सदा ही उद्यत है कि ऐसा ही पूर्ण प्रकट हो जाये, पर उपादान दृष्टि से तो इस उपयोग में अपनी अशक्ति से इसको दबा रखा है और उपयोग ऐसा बन क्यों गया? देखो जो भी चौज विषम हो, अपने स्वभाव से विपरीत चले तो वहाँ परनिमित्त अवश्य है। परसंसर्ग हुए बिना कोई वस्तु विकृत नहीं हो सकती। तो क्या निमित्त है? कर्मविपाक। कर्मोदय, कर्मविपाक और ये उपयोग के विकार। इनकी होड़ अनादि काल से लग रही है। अनादि परम्परा से यह परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव की रीति में बढ़ते हुए अब तक चले आ रहे हैं, और जब तक किसी विधि से सम्यग्ज्ञान उत्पन्न नहीं होता तब तक इसकी धारा में कोई बाधा नहीं डाल पाता, फिर भी प्रकृत्या क्षयोपशमलब्धि होती और बढ़-बढ़कर जब सम्यक्त हो, अपने ज्ञान की सुध हो, स्वभाव में आश्रय हो तो यह कर्म-मेघपटल दूर होता है। तो जैसे-जैसे अवध्यावरण कर्म का विगम विशेष हो, अवधिज्ञानावरण का क्षयोपशम हो वैसे ही वैसे यह अवधिज्ञान प्रत्यक्षज्ञान प्रकट होता जाता है। अवधिज्ञान देशावधि व थोड़ा अवधिज्ञान हो तो उसका क्षेत्र और काल बहुत थोड़ा होता है। कितना होता है कि आत्मा के निकट ही रहने वाली किसी चौज को जान पाये और दूर का न जान सके। जो जघन्य अवधिज्ञान है और काल से बहुत निकट अन्तर्मुहूर्त की बात को जान पाये ऐसा जघन्य अवधिज्ञान और जब यह बढ़ता है तो क्षेत्र भी बढ़ता है, काल अवधि भी बढ़ती है। यह नियम नहीं कि जघन्य अवधिज्ञान होकर ही आगे का अवधिज्ञान हो। परमावधि सर्वावधि ज्ञान होता है तो सारे लोक के रूपी पदार्थ जो असंख्याते वर्ष के अवधि के भूत भविष्य के पदार्थ ज्ञान में आ जाते हैं। अवधिज्ञान का उत्कृष्ट विषय भी बहुत है। हाँ जो अवधिज्ञान के विषय में न आ सके ऐसा अनन्त तो अनन्त है। अनन्त कई प्रकार के होते। कुछ ऐसे होते कि जिनका अन्त तो आयेगा और नाम है अनन्त और ऐसा भी अनन्त है कि जिसमें से अनन्त भी निकल जाये तो भी अक्षय अनन्त रहेंगे। तो जो अवधिज्ञान के विषय से दूर है उसे भी अनन्त कहते हैं और जो अक्षय है उसे भी अनन्त कहते हैं। तो उस अनन्त से एक भी कम हो वह असंख्यात माना जाता है, ऐसी असंख्यात पर्याय और लोक का सारा क्षेत्र अवधिज्ञान का विषय बन जाता है। ऐसा विषय होता है परमावधि सर्वावधि का और ऐसा ज्ञान जिसके प्रकट है वह चरम शरीर होता है। उसके बाद केवलज्ञान होता और मुक्त होते। एक देशावधि ही ऐसी है कि जिसके बाद कुछ नियम नहीं। चारों गतियों में यह देशावधिज्ञान होता है। तिर्यक्च भी अवधिज्ञानी होते हैं, ज्ञानी हैं, सम्यग्दृष्टि हैं, ऐसे पशु-पक्षियों के भी अवधिज्ञान हो सकता है। मनुष्यों के भी हो सकता है। जो श्रावक हैं, घर में रहते हैं उनके भी हो सकता है। नारकियों में भी हो सकता और देवों में भी। तो अवधि की कक्षायें बहुत हैं। वे सभी अवधिज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना एक आत्मशक्ति से प्रकट होते हैं।

आत्माश्रय से ज्ञानबल का विकास—देखो एक थोड़ासा उदाहरण जब किसी बालक को या बड़े को कोई भजन बोलते-बोलते या कोई बात करते-करते भूल हो जाये, याद न आये तो वह दृष्टि कहां गङ्गाता है? भीतर की ओर याद करने के लिए, न कि बाहर पुस्तक की ओर। याद पाने की, स्मृति पाने की क्या रीति है? तो यह उपयोग जब एक अपने आत्मा की ओर आता है तो इसमें महान बल प्रकट होता है। बाह्यपदार्थों में उपयोग लगा लगाकर अपने को बलशाली बुद्धिमान समझना यह तो एक झूठी लड़ाईसी लड़ी जा रही है और बाह्यपदार्थों का विकल्प त्यागकर एक अपने सहज आनन्दमय ज्ञानधन आत्मस्वभाव पर उपयोग लगाना एक यह ऐसा सीधा काम है कि जिसके प्रभाव से अतुल्य बल प्रकट हो सकता है। आत्मबल ही वास्तविक बल है। शारीरिक बल को अगर वास्तविक बल माना जाये तब तो एक बड़ी अलौकिक बात देखने में आ रही। उसका अर्थ लगाओ। एक ८ वर्ष का बालक १०-१२ बड़े पुष्ट पड़ों को (भैंसों को) हाँकता चला जाता है एक छोटासा डंडा लिए हुए, और वे सब १०-१२ पड़े (भैंसे) उस बालक के वश में हैं। अब देखो एक पड़े में (भैंसे में) बल कितना है? कई घोड़ों की ताकत मिलाकर एक भैंसे के बराबर ताकत होती है। तो इतने बलशाली वे भैंसे एक बालक के वश में हो गए तो इसमें अन्तर किस बात का है? ज्ञानबल का बुद्धिबल का, हृदय बल का। तो यह आत्मबल ही एक अमीरी है। बाहर में अमीरी व गरीबी में क्या फर्क पड़ता है? कोई बाहर में बहुत अमीर (धनिक) हो और पर में ममता रहती हो तो उसे चैन कहां? एक अमेरिकन, जिसका नाम “फोर्ड” जिसने “फोर्ड मोटर” का बहुत बड़ा आविष्कार किया उसे अरबपति कह लीजिए, खरबपति कह लीजिए, वह भी अपने छोटे छोटे नौकरों को देखकर उनसे बहुत ईर्ष्या करता था। उनको हँसते गाते, काम करते देखकर वह अपने को बड़ा दुःखी और उनको बड़ा सुखी अनुभव करता था। अब बतलाओ यहाँ रहता है एक अकेला यह चिन्मात्र और कुछ तो रहता नहीं। जो चिन्मात्र तत्त्व है वही तो रहेगा। मगर यहाँ कहां-कहां उपयोग देकर और क्या-क्या अपना बिगाड़ किया जा रहा है? जैन शासन पाया, अमूल्य समागम पाया तो उसका सदुपयोग कर लें, नहीं तो यह दुर्लभ अवसर पुनः मिलना कठिन है। दिन तो कटते ही हैं। सबके कटते हैं, विषयों में काट लिया दिन तो उसमें सार कुछ न मिलेगा और एक ज्ञान ध्यान संयम वैराग्य में दिन काट लेंगे तो भविष्य में जब तक संसार है तब तक अतुल वैभव मिलेगा और अन्त में मुक्ति प्राप्त हो जायेगी, संसार के सारे संकट मिटेंगे। बोलो यहाँ दिल फँसाने में लाभ है या अपने आप में दिल लगाने से लाभ है? और बड़े बड़े ज्ञानविकास होते हैं, उनका साधन है आत्माश्रय। इसी पौरुष में यह अवधि ज्ञान उत्पन्न हुआ। यहाँ सम्यक् अवधिज्ञान की बात चल रही है। सम्यग्दृष्टि के होता, ज्ञानियों के होता और यह अवधि कोई बड़ी चीज नहीं है। इच्छाओं का अभाव हो, एक आत्मा की लगन हो, ये सारे विलास ज्ञानविकास ये सब स्वयं अभ्युदित हो जाते हैं। तो जब निरावरण होकर यह ज्ञान सारे लोकालोक को ज्ञान सकता है, ऐसा यह केवलज्ञान से ही होता है, तब यथायोग्य किन्हीं संसारी जीवों के ऊपरी रूपी पदार्थ उस भूत भविष्य का बाहरी पाटी का एक प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाये तो यह कोई बड़ी बात नहीं है। नियमतः अवधिज्ञान ज्ञानविशेष है।

मनःपर्ययज्ञान की ज्ञानविशेषता—अब मनःपर्ययज्ञान के विषय में चिंतन करें। दूसरे के चित्त में आये हुए पदार्थ का ज्ञान कर लेना मनःपर्ययज्ञान है। जहाँ केवलज्ञान हो सकता है वहाँ मनःपर्ययज्ञान बने तो इसमें क्या

आश्र्वय? यह भी इन्द्रिय मन की सहायता बिना आत्मीय शक्ति से प्रकट होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान भविष्य की बात भी जानता और बताते ही हैं पुराणों में कि अमुक दिन यह होगा, अमुक भव में यह होगा। तो जहाँ एक भव की बात बता दी, एक दिन की बात बता दी उसका अर्थ यह है कि सभी समयों में जो कुछ है वह सब जानते हैं। मगर पदार्थ में जो विषम परिणमन होता है उसका जो विधान है उस विधान में जैसा उपादान निमित्त का योग उस विधान से योग्य उपादान में अनुरूप परिणमता है ऐसा ही होता चला जायेगा, ऐसे विधानपूर्वक जो कुछ हुआ, जो कुछ हो रहा है, जो कुछ होगा वह एक निर्मल ज्ञानी ने जान लिया। मनःपर्यय परकीय मनोगत अर्थ को जान लेता है। इसका भी विषय भूत भविष्य वर्तमान सभी अवधिसहित है।

**सर्वजघन्यज्ञान का स्वामी—**देखो ज्ञान की सर्वजघन्य अवस्था क्या होती और सर्वोत्कृष्ट अवस्था क्या होती है? निगोद जीव सूक्ष्म लब्ध्यपर्याप्तक के किस समय जघन्य ज्ञान होता सो सुनिये, देखो किसकी चर्चा चल रही? निगोद जीव की। जिसके बारे में कहा है—‘एक श्वांस में आठ दश बार। जन्म्यो मर्यो सह्यो दुःख भार ॥’ हाथ की नाड़ी एक बार उचकने में जितना समय लगता है उतनी देर में १८ बार जन्ममरण होता है। इस श्वांस की बात नहीं कह रहे जो मुख से निकलती है। मुख से निकलने की श्वांस में तो बड़ी बेर्डमानी चल सकती है, कहो काफी देर में श्वास मुख से बाहर निकाली जायेगी? कोई ऐसा कर तो भी कहीं उससे निगोद जीवों की आयु लम्बी तो न हो जायेगी। यहाँ हाथ की नाड़ी में कोई बेर्डमानी नहीं कर सकता। हों कोई कमज़ोर पुरुष हुआ तो उसकी नाड़ी तो कुछ मंदी चलेगी या तेज, मगर स्वस्थ पुरुष की नाड़ी ठीक उचकती है। तो उस नाड़ी के एक बार उचकने में जितना समय लगता है उतने समय में १८ बार जन्म होगा। देखो जन्म का ही नाम मरण है और मरण का ही नाम जन्म है। कोई ऐसा न सोच ले कि यह तो जन्ममरण दोनों का मिलाकर ३६ बार हो गया। तो जब गणित से हिसाब लगाया जायेगा तो एक सेकेण्ड में करीब २२-२३ बार जन्ममरण हो जाता है। ऐसे तो हैं वे निगोद जीव, तिस पर भी सूक्ष्म निगोद, और तिस पर भो लब्ध्यपर्याप्त। अब समझो, कितने जघन्य जीवों की बात कह रहे, जो, अनेक बार खूब जन्ममरण करके अनेक अनेक भवों में एकत्र रह रहे और मरकर कहीं बहुत दूर चले जाये निगोद बनने के लिए और मोड़ा लेकर जाये उस जीव के उस समय पहले मोड़ के समय जो ज्ञान रहता है वह सर्व जघन्य ज्ञान रहता है। इसके अतिरिक्त अन्य-अन्य जीवों के ज्ञान इससे अधिकाधिक मिलेंगे। उस जीव के जब कुछ अपने आप संक्षेप में कुछ हीनता होती है उनका ज्ञान बढ़ता है।

**बहिरंग निमित्त और अंतरंग निमित्त के विश्लेषण का दिग्दर्शन—**बताओ उन जीवों का क्या वश चले? विशेष ज्ञान नहीं, मन नहीं। और वहाँ कोई परिचय नहीं, जिनके वे कर्म कैसे आश्रय लें? ये कर्मों को नहीं जान सक रहे वे निगोद और उनके पास नहीं चिपका रहे अपने उपयोग को तो क्या उनके विकार हट जायेंगे? वे तो नैमित्तिक हैं, हो गए। बुद्धिमानी तो इसमें है कि जब हम आप लोगों को ज्ञान मिला तो हम इस आश्रयभूत निमित्त का आश्रय न करें, आधीनता न सोचें, इसको दिल में न रखें। इससे हमारी प्रगति चलेगी। ये बाहरी पदार्थ ऐसे हैं कि इनमें उपयोग दें तो ये निमित्त कहलायेंगे, न उपयोग दे तो निमित्त न कहलायेंगे। मानो कोई एक छोटी उम्र की महिला है तो उसको पिता तो देखता है और तरह से, भाई देखता है और दृष्टि से, स्वसुर

देखता है और दृष्टि से, पति देखता है और दृष्टि से । अरे वह तो एक ही है, अगर वह किसी के भाव का निमित्त हो तो सबके एक ही किस्म के भाव बनना चाहिए था, मगर जिसकी जैसी दृष्टि है उस दृष्टि के अनुसार उस बाह्य पदार्थ का आश्रय लेकर वह अपने वैसे विकल्प बना रहा । देखो ये बाहरी पदार्थ निमित्त नहीं कहलाते, ये आश्रयभूत कहलाते । इनको उपचरित निमित्त बोलते हैं । मगर कर्मविपाक जो चल रहा है वह उपचरित निमित्त नहीं है । हम जानते हों तो, न जानते हों तो । न जानने वाले तो अनंतानंत जीव हैं । जैसा जो कुछ दुनिया के और पदार्थों के साथ निमित्तनैमित्तिक व्यवहार है वहाँ भी चल रहा है, सो ही विधि यहाँ है, पर यह फर्क हो जाता है कि जो ज्ञानी जीव बाह्य विषयों का इन पदार्थों का आश्रय नहीं लेते उनके व्यक्त विकार नहीं होता, हाँ अव्यक्त विकार रहते हैं, वे विकार व्यक्त नहीं हो पाते, और विकार व्यक्त न हो पाये, तो उनके चोट नहीं लगती है । वे बहुत साधारण आस्त्रबंध के हेतु होते हैं, जिनको अध्यात्मशास्त्र में दृष्टि में नहीं लिया है, करणानुयोग उन विकारों का वर्णन करता और कुछ ऐसा समझ लो ।

**सम्यक्त्व की अनंतसंसारच्छेदकता—**किसी जीव ने सम्यक्त पा लिया तो सम्यक्त पाने से अनन्त संसार कट गया ना? अब रह गया मान, लो करोड़ वर्ष का संसार या कुछ कम अर्धपुद्गल परिवर्तन सही, यह इतना बड़ा संसार इस अनन्त संसार के आगे क्या गिनती रखता है? जैसे किसी पर एक लाख का कर्जा हो और १९९९९ रु० अदा कर चुका हो, केवल १) रुपये का ही कर्जा शेष रहा तो उसे लोग कर्जा भी नहीं कहते इतने बड़े धन के सामने, ऐसे ही समझ लो कि जहाँ सम्यग्दृष्टि जीवों का अनंत संसार मिट गया वहाँ ये करोड़, अरब खरब वर्ष कुछ गिनती भी रखते हैं क्या? अरे उनकी कुछ भी गिनती नहीं है । एक जगह यह कथानक आया है कि कोई एक श्रावक किसी समवशरण में जा रहा था तो उसे मुनि महाराज रास्ते में मिले । मुनि महाराज ने उस श्रावक से कहा कि तुम समवशरण में जा रहे हो वहाँ से हमारे विषय में जानकारी करके आना कि अभी हमारे कितने भव शेष हैं? वे मुनिराज उस समय एक छेवले के पेड़ के नीचे बैठे हुए थे । छेवले के पेड़ में तो देखा होगा कि बहुत कम पत्ते होते हैं । खैर, वह श्रावक जब समवशरण में पहुंचा और प्रश्न किया कि अभी अमुक मुनि महाराज के कितने भव शेष हैं? तो गणधरदेव ने वहाँ उत्तर दिया कि वह मुनिराज जिस वृक्ष के नीचे बैठे होंगे उसमें जितने पत्ते होंगे उतने भव अभी शेष हैं । तो वह श्रावक जब वापिस आया और मुनि महाराज को एक इमली के वृक्ष के नीचे बैठा हुआ पाया तो अपना माथा धुनते हुए बड़े खेद के साथ बोला—महाराज ! अभी तो आपके बहुत भव शेष हैं । समवशरण में बताया है कि जिस वृक्ष के नीचे बैठे हुए हैं उसमें जितने पत्ते हैं उतने भव अभी शेष हैं, तो वहाँ मुनि महाराज बोले—अरे श्रावक तू व्यर्थ दुःखी क्यों होता? अरे गिनती तो आ गई । उस अनन्तकाल के सामने ये लाख, करोड़, अरब भव कुछ भी तो गिनती नहीं रखते । और ये लाखों, करोड़ों भव तो एक ही दिन में खत्म किए जा सकते हैं । तो जैसे कहते हैं ना, कला, शृङ्खल, एक शोभा की बात । सार बात बस यही है आत्मा के सहजस्वरूप को जानकर उस रूप अपने को अनुभव करें कि मैं तो यह हूँ, और झगड़े सारे खत्म । बाकी के जो और विवाद उठ खड़े होते उनसे आत्मा ऐसा झुँझला जाता और भीतर में ऐसा कषाय बैठ जाता कि वह स्वभावाश्रय करने का पात्र नहीं रहता । उनसे हमें क्या प्रयोजन? तो एक निर्णय है अपने की निज सहज स्वभावरूप मानना कि यह मैं हूँ और मेरा कार्य इसके

अनुरूप केवल ज्ञाता द्रष्टा रहना है। बात केवल यह है, ऐसा पाना है, बस यही एक धुन रहनी चाहिए, फिर आपकी कहीं अरक्षा नहीं है।

अवधि, मनःपर्यय व केवलज्ञान की अबाधित अध्यक्षता—ये अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान, केवलज्ञान ये तीन अतीन्द्रिय ज्ञान हैं, इनका बाधक कोई प्रमाण नहीं है जिससे कि इसकी प्रमाणता में बाधा आये। न युक्ति से बाधा, न आगम से और न प्रत्यक्ष से बाधा। जो इन्द्रियप्रत्यक्ष है उसका तो विषय ही नहीं। बाधा कैसे वह डालेगा? युक्तियां ऐसी अबाधित हैं जैसी कि जो अभी कुछ कहीं। जिससे अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान ये सिद्ध हो जाते हैं। दोनों ज्ञानों में कला है ना जानने की। जाना, कितना जाना? मेरा तो जानना जब काम है तो उसमें अवधि क्या कि कितना जानें? वह तो जब तक दबा है सो कम जानता है। और उसका आवरण हट जाये तो वह तो सर्व जानेगा, पर युक्ति से सोच लो। जो चीज किसी उपाधि के मिलने से घटती है और उपाधि के दूर होने से बढ़ती है, यदि उपाधि बिल्कुल दूर हो जाये तो वह अपने प्रकर्ष में आयेगा कि नहीं? तो यह ज्ञान जब रागादिक आवरणादिक अंतरंग बहिरंग उपाधियों के संसर्ग घटते हैं और इनके वियोग से बढ़ते हैं तो जहाँ वियोग होता है वहाँ यह सम्भव है कि सर्वथा भी वियोग हो सकता। तो जहाँ आवरण का सर्वथा वियोग हो वहाँ ज्ञान पूरा प्रकट हो जायेगा। युक्ति बताती है, आगम बताता है, अनुभव बता देगा। इस प्रत्यक्षज्ञान के मानने में किसी प्रकार की बाधा नहीं। तो मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् में जो ५ ज्ञान विशेष बताया है वह बिल्कुल ठीक है। इसके अतिरिक्त जो कुछ भी ज्ञान बतावेंगे वे इन ५ में शामिल हो जायेंगे, कोई छूटा नहीं। और इनसे अधिक कहने की जरूरत नहीं है। ये ५ ज्ञान विशेष हैं और ये सभी के सभी ज्ञान कहलाते हैं, दोनों तरह से अवधारण है। ये ५ ही ज्ञान हैं, दूसरा कोई ज्ञान नहीं कुमति कुश्रुत वगैरह। ये ५ ज्ञान ही हैं, इनमें अज्ञान का लवलेश नहीं। इस तरह उमा स्वामी महाराज ने जो सूत्र में रचना की वह दार्शनिक दृष्टि से, करणानुयोग से, अध्यात्मदृष्टि से, सभी दृष्टियों से इसके क्रम नाम सभी संगत बैठते हैं। इस तरह इन ५ ज्ञानों के बारे में कुछ स्वरूप का वर्णन किया। अब इसके सम्बन्ध में जो कुछ स्फुट आशंकायें हो सकती हैं उनका विवरण चलेगा।

आत्महितभावनासहित वाचन श्रवण की उपयोगिता—शान्ति पाने की विधि, धर्मधारण की विधि, जिनवचन सुनने की विधि, जिनवचन पठन वाचन करने की विधि, कषाय मंद करके, बाहरी उपयोग हटाकर एक निजहित की ही भावना रखकर बनती है। हितमय, शिवरूप मंगलमय जो निज का सहज स्वरूप है उसके आलम्बन की भावना हो तो हमारे ये दर्शन, पूजन, स्वाध्याय, सत्संग आदि सब सफल हो जाते हैं। श्री उमास्वामी महाराज के इस रचित ९वें सूत्र में ज्ञान की बात चल रही है, किसकी बात चल रही है? जिसमें कषाय का नाम नहीं, जहाँ कष का नाम नहीं, ऐसा ज्ञानस्वरूप, किन्तु उपाधि का संसर्ग पाकर और उपयोग द्वारा बाह्य पदार्थों में रमकर याने उपचरित निमित्त का आश्रय कर वास्तविक निमित्त के सान्त्रिध्य में यह दशा चलती है। वहाँ यह समझना चाहिए कि ये सब विकार औपाधिक हैं, मेरे को बरबाद करने के लिए आते हैं, ये महिमान हैं, महिमा नहीं जिनकी, हमारे लिए जिनका कोई महत्त्व नहीं, मेरे को बरबाद करने आते हैं विकार। विकार मेरा स्वरूप नहीं। ये मेरे स्वरूप से नहीं उठे, मेरे स्वभाव से नहीं आये। मुझ को मूढ़ बनना पड़ा, ऐसी ही

मेरी योग्यता और ऐसा ही निमित्त सन्निधान कि यह बात बन रही है, पर ये सब मैं नहीं हूँ। मैं तो एक चैतन्य सत हूँ और जिसको बहुत सुगमतया समझना हो तो अपने आप में मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान मात्र हूँ, ऐसी अन्तर में दृष्टि रहे। उस ही ज्ञानस्वभाव की पर्याय के बारे में बात चल रही है। ये ज्ञानविशेष ५ होते हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल, इन ५ ज्ञानों का सामान्यतया स्वरूप अब तक कहा गया है। अब कुछ इसमें विशेषतायें बतायी जा रही हैं।

**मतिज्ञान व श्रुतज्ञान में एकत्व की आशंका**—पहली बात यह सामने आ रही है कि मति, श्रुत ये दो ज्ञान अलग-अलग क्यों कहे गए? ये तो दोनों एक ही बात हैं? कैसे एक बात है कि देखो मति श्रुत ये सहचर हैं, ये साथ रहा करते हैं, साथ चला करते हैं। बताया ही गया है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अनादिकाल से चले आ रहे हैं। अज्ञानअवस्था में कुमति कुश्रुतरूप तो चलो सम्यक्त हो गया तो उनका बन गया मति श्रुत रूप, पर मति श्रुत तो चले आ रहे हैं, इनमें साहचर्य है, सो फिर ये एक हो गए, उन्हें दो कैसे कहा? यह सब शंकाकार की शंका चल रही है और देखो ये दोनों एक ही जगह रह रहे हैं। एक ही आत्मा में रहते हैं। कोई आत्मा के प्रदेश भिन्न हैं क्या? मतिज्ञान आत्मा में इतने हिस्से में रहे और श्रुतज्ञान आत्मा के इस हिस्से में रहे, जब ये दोनों एक साथ एक जगह रह रहे हैं तो ये एक ही हैं इनमें नानापन नहीं है। तीसरी बात यह देखने में आ रही है कि मति और श्रुतज्ञान में कोई विशेषता नजर नहीं आती। सभी जीवों के हो रहा है। मति भी परोक्षज्ञान है, श्रुत भी परोक्षज्ञान है, और उस परोक्षता के नाते इसमें कोई विशेषता नहीं, इस कारण से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में एकता है। एक ही चीज है, इनको अलग-अलग दो संख्या में क्यों कहा गया? शंकाकार अपनी शंका कह चुका।

**साहचर्य और एकत्रावस्थान हेतु से मति श्रुत में नानात्व सिद्ध हो जाने से शंकाकारोत्त इन दो हेतुओं में विरुद्ध हेत्वाभासता**—अब समाधान में कुछ विचार करके देखें तो जो बात शंकाकार ने मति और श्रुतज्ञान को एक करने के लिए कही वह ही बात मति और भूत की भिन्न-भिन्न बताने के लिए हेतु बनती है। पहला हेतु दिया था कि यह सहचर है, एक साथ रहता है एक साथ चलती है तो इसी से ही सिद्ध हुआ कि ये दो अलग-अलग हैं। जो साथ साथ चले, साथ-साथ रहे वह एक क्या? कोई एक हो तो क्या उसमें यह कहा जायेगा कि ये साथ-साथ जा रहे? अरे दो हों तो कहा जायेगा कि साथ-साथ जाते हैं। तो साहचर्य हेतु से तो यह सिद्ध होता है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान—ये दोनों अलग-अलग ही हैं। देखो समझो, तुम्हारी वर्तमान हालत की बात कही जा रही है। जो ज्ञान जगता है भीतर वह दो तरह से जग रहा है। सभी लोग खूब सोच लो इन्द्रिय और मन से कोई बात जान ली, जानते कि नहीं और उस इन्द्रिय मन से जानी हुई बात के बारे में कुछ और अधिक सोचना है, विचारना है, समझना है तो यही हो गया श्रुतज्ञान। पहले हो गया मतिज्ञान। तो यह मतिज्ञान और यह श्रुतज्ञान ये दोनों हम आपके चल रहे हैं। उसी के बारे में प्रश्न हुआ था कि जब दोनों एक साथ रहते हैं, चलते हैं तब ये एक होना चाहिए। तो उत्तर सीधा हो गया कि जब एक साथ रहते हैं तो दो अपने आप सिद्ध हो गए। दूसरा हेतु शंकाकार ने यह बतलाया था कि ये दोनों एक आत्मा में रहते हैं इसलिए एक हैं। तो इससे ही सिद्ध है कि ये अनेक हैं, एक जगह ये रहें तो उससे ही सिद्ध है कि अनेक हो गए।

एक घर में रहते हैं १० आदमी, तो अपने आप सिद्ध हो गया कि वे १० अनेक हैं, वे १० एक नहीं हैं। जैसे कहा कि एक आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदिक अनेक गुण हैं तो इनके कहने से ही सिद्ध हो गया कि वे गुण अनेक हैं।

**अशुद्ध नय शुद्ध नय के विषय की संक्षिप्त चर्चा—**अब देखो जिस दृष्टि में जो बात कही जाये उसको उस दृष्टि में समझना। अब भेदनय की दृष्टि में कहा जा रहा है कि गुण अनेक हैं उस दृष्टि में अनेक समझ लो, मगर शुद्धनय से देखने पर, स्वभावदृष्टि से निरखने पर तो यह ज्ञात होता है कि गुण तो हैं नहीं, एक अखण्ड चैतन्यशक्ति मात्र है। स्याद्वाद का इतना बड़ा उपकार है कि जो एक सही मार्ग में इस जीव को लगा देता है। नयों का प्रयोग किस तरह करना, प्रमाण का प्रयोग कैसे करना? इन बातों का परिचय न होने पर यहाँ कुछ उल्लङ्घन होती है, विसम्बाद होता है। रीति यह है कि जिस नय से कहा जाये उस नय के विषय को ही उस मूड में तकना चाहिए, अन्य नयों के विषय का विरोध न करना चाहिए। उसकी चर्चा ही नहीं। उसका निषेध करने का ही यहाँ अवकाश नहीं, क्योंकि जिस नय के मूड में लग रहे उस ही नय के विषय को समझना है और यदि दूसरी बात के सम्बन्ध में बोलना है तो उस नय के मूड में आइये और उस नमक बात करें। तब इसके विरुद्ध बात एक आत्मा में अभी तकी जा सकती है कि देखो बतलाओ यह जीव कषायों से भरा हुआ है कि नहीं? एक दृष्टि से देखो तो कषाय कलि हो रहे, कषायें समग्र प्रदेशों में छायी हैं, और एक स्वभावदृष्टि से देखो तो कषायों का नाम ही नहीं, स्वभावदृष्टि में स्वभावस्वरूप तका जा रहा है। एक नय से देखते हैं तो यहाँ कषायों की कालिमा भरी पड़ी है। एक नय से देखते हैं तो यहाँ शान्ति ही शान्ति है। आश्र्य होता है कि कैसे हो गई कषायें? यह तो स्वभाव है ही नहीं। तो जिस नय से जब जो बात हुई हो तब उस नय को ग्रहण करके समझना चाहिए और उस वक्त वक्ता के मूड (दिमाग) में अपना मूड (दिमाग) मिलाकर सुनना चाहिए। लेकिन वक्ता को भी चाहिए कि वह सप्रतिपक्ष वर्णन करे। जब वर्णन ही करने बैठे हैं तो वहाँ दोनों नयों के विषयों को बताते जायें। एक-एक वाक्य में समयसार में व्यवहार और निश्चय दोनों की बात कही है। जहाँ यह कहा कि आत्मा किसका कर्ता भोक्ता है तो उसकी विधि बताते हुए कहते हैं दृष्टान्त में कि जैसे वायु के चलने और न चलने के निमित्त से समुद्र में तरंग और निस्तरंग अवस्था होती है। तो भी वह समुद्र तो अपने आप में ही अपने को तरंगरूप करता हुआ अपने को ही अनुभवता है और अपने को निस्तरंगरूप करता हुआ अपने को ही अनुभवता है। ऐसे ही यह आत्मा कर्मविपाक के उदय के निमित्त और कर्म के विपाक के अभाव के निमित्त से यह जीव संसार निःसंसार अवस्था को पाता है। फिर भी यह जीव ही तो संसरण, संसार रूप, विभावरूप हुआ अपने को तकता है इस तरह और अनुभवता है और निःसंसाररूप होता अपने आपको ही परिणमाता हुआ अपने को करता और भोगता है। व्यवहार और निश्चय ये दोनों सम्यग्ज्ञान के अंश हैं। हाँ उपचार एक रूढ़ि है, भाषा है, लौकिक भाषा है। एक बड़ा ध्यान देने की बात है कि बहुत साधारणसी बात होने के कारण याने लोग तो समझदार होते ही हैं, परख सकते हैं, तो व्यवहार शब्द का प्रयोग सम्यग्ज्ञान के अंशरूप व्यवहार के लिए भी होता है और व्यवहार का प्रयोग उपचार के लिए भी होता है, पर ऐसा सामान्यतया ज्यादह विश्लेषण नहीं किया। आचार्य संतों ने व्यवहार-व्यवहार शब्द से कहीं श्रुतज्ञानांश व्यवहार के लिये कभी

उपचार अर्थ में व्यवहार का प्रयोग किया । उपचार की बात को भी कभी-कभी उपचार शब्द देकर भी कह देते और कभी व्यवहार शब्द कहकर भी कहते हैं । तो उसका कारण यह है कि वह एक इतनी साधारणसी बात थी कि उनकी समझ में न आया ऐसा कि लोग यहाँ विवेक न कर पायेंगे कि यह व्यवहार तो सम्यग्ज्ञान के अंश के लिए प्रयुक्त है और यह व्यवहार उपचार के लिए प्रयुक्त है । उपचार में तो ऐसी बात है कि उपचार जैसा कहे वैसा असत्य है । उसका अर्थ लगाना चाहिए कि वैसा नहीं है, और प्रकार है, पर व्यवहार में जो कि सम्यग्ज्ञान का अंश है उसमें यह बात घटित नहीं होती कि व्यवहारनय जैसा कहता है सो असत्य है । व्यवहारनय ने बताया कि आग का निमित्त पाकर कागज जल जाता है तो हम इसे असत्य कैसे कह दें? उपचार ने बताया कि आग ने कागज जला दिया, हाँ ऐसा ही समझे तो वह असत्य है, क्योंकि आग हो अपने प्रदेश में अपनी उष्णता का परिणमन करेगी, अन्य पदार्थ में परिणति न करेगी ।

तत्त्वाधिगम के उपायों के दिग्दर्शन में प्रमाण और नयों का विवरण होने से उनमें असत्यता का अभाव—ऐसा ध्यान में रखें कि यह सम्यग्ज्ञान का प्रकरण है । मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की बात चल रही है और पहले अध्याय में पूरे सम्यग्ज्ञान की ही बात है । थोड़ासा प्रसंग पाकर थोड़ासा कुमति, कुश्रुत, कुअवधि के बारे में बताया, सो अलग से सूत्र लिखा है—“मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च तथा सदसतोरविशेषाद्यद्वच्छेपलब्धेरुमत्तवत् ।” जहाँ खोटे ज्ञान की बात करते हैं वहाँ दो सूत्र आये हैं, जिसमें कुज्ञान की बात करी, मायने अप्रमाण की बात करी, और अन्तिम सूत्र में नयों की बात करी । नय के विषय में जहाँ प्रतिज्ञा की कि प्रमाणनयैरधिगमः प्रमाण और नयों से तत्त्व का अधिगम होता है । जिसके द्वारा अधिगम होता है वह यदि असत्य है तो अधिगम क्या सत्य होगा? जिसके द्वारा हमने जाना वह ज्ञान यदि असत्य है तो जो जानकारी बनी क्या वह सत्य बन जायेगी? वह भी असत्य हो जायेगी । तो प्रमाण नयों के द्वारा सच्चा ज्ञान होता है कि इन्होंने ज्ञान होता है? सच्चा ज्ञान होता है । और नयों के भेद बताये गए—नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढ़नय और भूतनय—इन ७ नयों के द्वारा जो ज्ञान होता है वह सत्य ज्ञान होता है कि असत्य? सत्य । उनका जो निश्चय है, जो जाना है वह सत्य है, क्योंकि नय सत्य है । इनके द्वारा अधिगम बताया गया है ।

आश्रयभूत निमित्त व अन्वयव्यतिरेकी निमित्त इनका तथा अव्यक्त विकार व व्यक्त विकार इनका अन्तर समझने से निर्विसंवादता व शान्ति का उद्धव—थोड़ा दो जगह भेदप्रदर्शन रखकर आगम की कथनी सुनना और करना चाहें सो बड़ा स्पष्टीकरण होगा, विसम्वाद न रहेगा और बहुत शांति मिलेगी । दो बातें क्या? एक तो समझना चाहिए आश्रयभूत निमित्त और अन्वयव्यतिरेकी निमित्त, तथा दूसरी बात समझनी चाहिये—अव्यक्त विकार व व्यक्त विकार। देखो—जीव और अजीव में तो दो ही कारण माने गए हैं—(१) उपादान और (२) निमित्त । काठ धरा है और वहाँ आग पड़ी है तो काठ जल गया । तो वहाँ उपादान काठ है और निमित्त आग है । सो काठ जल गया या हवा चली तो पत्ते झड़ गए, तो पत्ता उपादान है जो अपने में क्रिया कर गया । हवा का चलना निमित्त है । जहाँ अजीव अजीव ही हो वहाँ तीन बातें न घटित होंगी । वहाँ दो ही बातें होती हैं—(१) उपादान और निमित्त, लेकिन जीव के विकार के प्रसंग में तीन बातें हुआ करती है—(१) उपादान, (२) निमित्त और (३) आश्रयभूत । चूंकि यह उपयोगात्मक है ना, विकारस्वरूप है तो जो विषयभूत है उसे भी निमित्त कहते हैं

और जो निमित्त है उसे भी निमित्त कहते हैं। तो ये तीन बातें आती हैं जीव के विकार में, अन्य जीव अजीव के प्रसंग में ये तीन बातें नहीं होतीं। तो जब ये तीन बातें हुईं तो कुछ तो अन्तर तो होगा ही ना, आश्रयभूत और अन्वयव्यतिरेकी निमित्त में। आश्रयभूत निमित्त की यह स्थिति है कि हम यदि उपयोग लगायें, उसमें उपयोग जुटायें तो वह निमित्त होता है अन्यथा निमित्त नहीं, और इसी को कहते हैं पर का आश्रय करे तो निमित्त है, नहीं तो नहीं। यह बात है आश्रयभूत निमित्त में। यह जान-जानकर बुद्धिपूर्वक इस बाह्य विषयभूत पदार्थ का आश्रय लेते हैं और अपने में विकार व्यक्त करते हैं। तो पर का आश्रय लेने से क्या होता है? व्यक्त विकार। और जहाँ पर का आश्रय न लें और कर्मविपाक भी नहीं है तो विकार स्थिति न बनेगी। और पर का आश्रय न लें और कर्मविपाक चलता रहे तो वहाँ अव्यक्त विकार होगा। जैसे जब कोई चीज बड़ी तेजी से घूमती है। जैसे यह पंखा बड़ी तेजी से चल रहा है तो उसका जो केन्द्र बिन्दु है, ठीक बीच का स्थान है वह किसी को घूमता हुआ व्यक्त नजर नहीं आता, और उस पंखे की जो पंखुड़ियों हैं वे व्यक्त घूमती हुई नजर आती हैं। और कोई यदि उन पंखुड़ियों में एक चहर बांध दे या उसमें कुछ लट का दे तो उसका घूमना व्यक्त नजर आता है। तो ऐसी व्यक्त अव्यक्त की बात है, कुछ नजर नहीं आती, कुछ नजर आती, कुछ यों ही होता, तो देखो अध्यात्मशास्त्र का और करणानुयोग का परस्पर विरोध नहीं है, जो यह कहा जाये कि वह व्यवहार का विषय है, तो जिसे कहते हैं सो नहीं है, वह झूठ है। व्यवहार में यह बात घटित नहीं होती। उपचार में यह बात होती है। जो लोकरूढ़ि है उसमें यह बात है कि जैसा कहे वैसा नहीं। देखो इस वर्णन का विरोध कैसे नहीं? अव्यक्त विकार का वर्णन करणानुयोग करता है, व्यक्त विकार का भी करता है, अध्यात्मग्रन्थ व्यक्त विकार की बात कहता है कि ज्ञानी जीव के, सम्यग्दृष्टि जीव के आस्तवभावना का अभिप्राय न होने से वह निरास्तव है। अविरतसम्यग्दृष्टि जीव के ४१ प्रकृतियों का ही तो निरास्तवपना है कि शेष सब कर्मप्रकृतियों का निरास्तवपना है? तो शेष प्रकृतियों का जो आस्तव चल रहा है वह अप्रत्याख्यानावरणादिक निमित्तों का पाकर चल रहा है। श्रेणी में जहाँ बुद्धि विकार को नहीं ग्रहण करती, बुद्धि एक स्व में है और वहाँ भी विकार चल रहा है अव्यक्त विकार। आस्तव के मायने विकार। तो अव्यक्त विकार का वहाँ बराबर निमित्तनैमित्तिक योग रहा है।

**कर्तव्य और उदाहरणपूर्वक निर्णय—**अपने को करने का काम है बुद्धिपूर्वक। हमें क्या समझना, क्या करना, कैसे रहना, बस उसी बुद्धिपूर्वक चर्या के आधार से ही तो हमारे सुधार का उद्यम है, हमें विषयों में न प्रवर्तना, कषायों में न लगना और एक कषायरहित जो आत्मा का शुद्ध ज्ञानस्वभाव है उसकी उपासना में लगना। लगते हैं, करते ही यह हैं, दूसरी बात न सोचें कि और बातें हो रही हैं, अव्यक्त विकार हो रहे हैं, सोचने की जरूरत नहीं है, उसका निर्णय कर लिया। अब उन बाहरी निर्णयों को हमें सदा चित्त में नहीं रखना है। निर्णय न हो तब तो नुक्सान है, निर्णय हो सही तो अब जो हमारा प्रायोजनिक है उसका आश्रय लेने में हमारा कल्याण है। प्रयोज्य क्या है? यह शुद्ध आत्मतत्त्व, सहन आत्मस्वभाव, यह शक्तिमात्र चैतन्यस्वरूप, जो मुनियों के मन में, निरन्तर निवास करता है, उसका आश्रय लें। तो देखो एक बात तो यह समझनी है निमित्त के बारे में कि निमित्त दो तरह के होते हैं—दृष्टि में यह रख लें, फिर सबका उत्तर मिल जायेगा। जो लोग शंका रखते हैं या जो लोग ऐसा विश्वास रखते हैं कि समवशरण में जाये तो सम्यग्दर्शन हो, समवशरण में जाना सम्यक्त का

निमित्त है और कहते हैं कि समवशरण में तो यह जीव अनेक बार गया, सम्यक्त तो हुआ नहीं, बात दोनों ओर से ठीक है। एक बोल रहा है बहिरंग निमित्त की दृष्टि से, एक बोल रहा है कि यह अन्वयव्यतिरेकी निमित्त नहीं है कि जिसको सम्यगदर्शन हो, समवशरण में पहुंचे तब ही हो और न पहुंचे तो न हो, समवशरण में पहुंचे तो ऐसा नियम नहीं है, इस लिए ये बाह्य साधन कहलाते हैं। वास्तविक निमित्त तो हैं दर्शनमोह की तीन प्रकृतियाँ और ४ चारित्रमोह की, यों ७ प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम—यह अन्तरंग निमित्त हो तो यहाँ व्यभिचार न पड़ेगा कि जिसको सम्यक्त हो गया हो और इसका उपशम, क्षय, क्षयोपशम न हुआ हो फिर भी सम्यक्त हो जाये या किसी के उपशम, क्षय, क्षयोपशम हो और न हो सम्यक्त यह अन्वयव्यतिरेकी निमित्त नहीं है। अब जैसे बताया गया है ना, किसी को देवऋद्धि के देखने से सम्यक्त होता, किसी को वेदना के अनुभव से सम्यक्त होता तो ये सब बाह्य साधन हैं, इनके साथ अविनाभाव नियम नहीं है, तो ये दो प्रकार के निमित्त जानने से अनेक समस्याओं की उलझन दूर हो जाती है। इसी प्रकार व्यक्त विकार और अव्यक्त विकार, इनका निर्णय हो जाने पर बहुत से विकार समाप्त हो जाते हैं।

संसरणमुक्ति के लिये अपने प्रारंभिक कर्तव्य का दिग्दर्शन—अपने को करना क्या? वह तो स्पष्ट बात है। व्यवहारनय का विरोध न कर मध्यस्थ होकर निश्चयनय का आलम्बन लेकर मोह को नष्ट करता हुआ अपने को पर से विविक्त निज ज्ञानस्वरूपमय अनुभव करना, यह मैं हूँ बस यह है अपनी प्रगति का उपाय, यह है मुक्ति का साधन। तो जहाँ, साधन की बात कही जाये वहाँ तो एक लक्ष्य होता है और देखो लोग साधन में विवाद तो करते नहीं और अन्य निर्णय के प्रसंग में विवाद करते हैं। किसी को बहुत भी ज्ञान न हो और एक अन्तःस्वभाव का बोध हो वह कल्याणमार्ग में लग जाता है। पशु-पक्षी वगैरह तो जीव, अजीव, आस्रव आदि के नाम भी नहीं बोल सकते हैं, अरे जिनकी जीभ इतनी मोटी कि बांय-बांय करते, ओं-ओं करते, ची-ची करते, अक्षर भी नहीं बोल पाते, ऐसे बंदर, भैंसा, बैल वगैरह जो तत्त्वों के नाम भी नहीं जानते, व्याख्यान नहीं समझते, कोई भीतरी विश्लेषण का चिन्तन नहीं करते, लेकिन प्रायोजनिक बात उनको मिल गई, यह मैं हूँ, भीतर जो लक्ष्य में आया, एक प्रतिभासमात्र चैतन्यस्वरूप यह मैं हूँ, इतना उनके बोध बना तो काम बन गया। तो अनेक पशु पक्षी रहते जीवनभर सम्यग्दृष्टि। कोई बिरला ऐसा भी है कि संयमासंयम पाता है उन पशु-पक्षियों में, मच्छों में जितने वहाँ सम्यग्दृष्टि मिलेंगे वे सब एक इस चैतन्य स्वभाव की भासना पर मिलेंगे। देखो संसार में सम्यग्दृष्टियों की ज्यादा संख्या तिर्यज्ज्वों में है, मनुष्यों में नहीं है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि मनुष्य तिर्यज्ज्वों में है, मनुष्यों में नहीं है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि मनुष्य तिर्यच सम्यग्दृष्टि ज्ञानी मनुष्य की अपेक्षा कम हैं। आखिर तिर्यच लोक का कितना बड़ा विस्तार है? कितनी जगह तिर्यज्ज्व रह रहे हैं, कितनी संख्या है? ढाई द्वीप का कितना बड़ा क्षेत्र है? यहाँ भी तिर्यज्ज्व, समुद्र में भी तिर्यज्ज्व, ढाई द्वीप के बाहर जो एक द्वीप है अन्तिम, उसका तो इतना बड़ा विस्तार है कि उसके अन्दर शेष के सारे द्वीप समुद्र का जितना विस्तार है उससे अधिक और उसके आगे है। एक स्वयंभूरमण समुद्र, उसका तो इससे अधिक विस्तार है, वहाँ भी तिर्यक। तो संख्या जहाँ बतायी गई द्रव्यप्रमाणानुगम में तो बताया गया है संयमासंयमी जीवों की संख्या तिर्यज्ज्वों से ज्यादह पायी जाती है। अब उससे सम्यग्दृष्टियों की संख्या का अनुमान कर लो। जिसे कल्याण करना है उसके लिए उपाय सुगम है और

जिसको आत्महित की प्रीति नहीं है उसके लिए ज्ञान में विवाद, आचार में विवाद, भेषभूषा में विवाद । जहाँ कहीं रहे वहीं अपना विवाद । कषायें जहाँ चाहे की जा सकती हैं । तो गुणग्राहिता अपने चित्त में रहना उत्तम है, क्योंकि यह संसार है । यहाँ कोई दूसरा मददगार नहीं है कि जिसका कोई राग या द्वेष या पक्ष या कोई बात विचार कर अपने को शरण मान सके कि मैं तो अब शरण हो गया । कोई मददगार नहीं । प्रभु का उपदेश है स्पष्ट कि अपने आपके सहारे चलो । तुम्हारा ही भगवान् आत्मा तुम्हारा आलंबन है । तो करने का तो खुद काम है ना? तो स्वयं की ऐसी जिम्मेदारी समझकर हमें स्वयं से अपना निर्णय लेते हुए अपनी प्रगति में चलना है ।

शंकाकारोक्त अविशेषत्व हेतु से भी मति श्रुत में भेद सिद्ध हो जाने से अविशेषत्व हेतु की भी विरुद्ध हेत्वाभासता—यह प्रकरण है ज्ञानस्वभावविशेष का । मतिज्ञान श्रुतज्ञान में एकता, एक साथ रहते हैं, इस कारण से हो जाये सो नहीं, बल्कि एक जगह रहते हैं, इससे तो अनेकता सिद्ध हो गई, और कोई कहे कि इसमें समानता पायी जा रही है, इसलिए तो ये दोनों एक हो गए । तो यह हेतु भी विरुद्ध है । जिसमें समानता पायी जाये वे दो रहेंगे एक नहीं । एक साथ पैदा हुए दो बालक जिनकी शङ्क-सूरत एक है, पहिचान नहीं सकते कि यह और है, यह और है । वे भी दो हैं, भले ही समानता है । तो इनमें समानता है, ऐसा कोई कहे तो उससे ही यह जाहिर हो जाता है कि ये दो हैं, भिन्न-भिन्न हैं, एक नहीं हैं । तो मतिज्ञान श्रुतज्ञान को एक बनाने के लिए, बताने के लिए जो शंकाकार ने हेतु उपस्थित किया उन हेतुवों से यह सिद्ध होता है कि ये दो भिन्न-भिन्न ज्ञान हैं ।

मति श्रुत में एकत्व सिद्ध करने के लिये शंकाकारोक्त तीन हेतुओं के विरुद्धहेत्वाभासपने का उपसंहार—कल यह चर्चा थी कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को अलग-अलग क्यों कहा गया? ये दोनों एक हैं और दोनों को एक सिद्ध करने के लिए हेतु दिये थे तीन । एक तो यह कि ये दोनों सहचर हैं । दूसरा यह कि दोनों का एक ही वस्तु में अवस्थान है, और तीसरा हेतु यह कि इन दोनों में समानता पायी जाती है । इसका उत्तर दे दिया गया था कि जिन तीन हेतुवों द्वारा तुम मतिज्ञान, और श्रुतज्ञान में एकत्व सिद्ध करते हो उन्हीं हेतुवों द्वारा नानात्व सिद्ध होता है । इस कारण ये तीनों हेतु विरुद्धहेत्वाभास हैं अर्थात् झूठे हेतु हैं । और विरुद्ध नाम का वह झूठा हेतु है तो जो बात सिद्ध करना चाहें उससे उलटी ही सिद्ध हो जाये उन्हीं हेतुवों से तो उन हेतुवों का नाम है विरुद्धहेत्वाभास । अनुमानप्रमाण का दार्शनिक शास्त्र में बहुत बड़ा प्रकरण है और अजैन दर्शन में तो केवल अनुमानप्रमाण पर बड़े-बड़े मोटे-मोटे ग्रन्थ बने हैं । जैनदर्शन ने जितना प्रयोजनवान् समझा उतना वर्णन विशदरूप में किया है, ऐसा संक्षेप में हेतुसाध्य प्रतिज्ञा के बारे में विवरण करके स्पष्ट किया है । किसी भी बात को सिद्ध करने के लिए हेतु बोला जाता है, वह हेतु यदि अन्यव्यतिरेकी है तब तो साध्य की सिद्धि करता है । यह ज्ञायक हेतु है, कारक हेतु नहीं, और यदि उनमें दोष है हेतुवों में तो वह साध्य सिद्ध नहीं कर सकता, ऐसा दोषदूषित हेत्वाभास कहलाता है हेतु । असिद्ध विरुद्ध, अनैकांतिक अकिञ्चित्कर, ये सब झूठे हेतु कहलाते हैं । उनमें से ये विरुद्ध नाम का दूषित हेतु है ।

मति श्रुत में अभेद सिद्ध करने के लिये शंकाकार द्वारा प्रस्तुत साहचर्य एकत्रावस्थान व अविशेषत्व हेतुओं की

असिद्धहेत्वाभासता का कथन—अब आज यह बतला रहे हैं कि इन हेतुवों में दूसरा दोष है असिद्ध नाम का । जो हेतु दे रहे हो वह यहाँ घटित ही नहीं हो रहा । जैसे पहले हेतु दिया कि यह सहचर है, मतिज्ञान और श्रुतज्ञान एक साथ रहते हैं, यह बात सर्वथा सिद्ध नहीं । लब्धि की अपेक्षा तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान एक साथ रहते हैं, पर उपयोग की अपेक्षा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान एक साथ रहते ही नहीं । छङ्गस्थ जीवों के उपयोग युगप्त नहीं होता, क्रमशः होता है । जब मतिज्ञान उपयोगरूप है तब श्रुतज्ञान उपयोगरूप नहीं । तो साहचर्य तो न रहा । तो इसमें साहचर्य हेतु असिद्धहेत्वाभास है । पहले हेतु में असिद्ध नाम का हेत्वाभास दोष आता है । दूसरा हेतु कहा—एकत्र अवस्थान । अरे एकत्र अवस्थान क्या है ? वस्तुतः तो दोनों में सहज स्थिति है, स्वरूप है । स्वरूप के ये प्रकार हैं । और पर्यायदृष्टि से ये भी एक साथ नहीं रह रहे याने उपयोगदृष्टि से इनका एक जगह अवस्थान नहीं है । जब मतिज्ञानोपयोग है तब श्रुतज्ञानोपयोग का अवस्थान नहीं । जब श्रुतज्ञानोपयोग है तब मतिज्ञानोपयोग का स्थान नहीं । तीसरा हेतु दिया था कि इन दोनों में विशेषता नहीं । मति और श्रुतज्ञान दोनों में समानता है, लेकिन यह हेतु असिद्ध है । पर्यायदृष्टि से समानता है ही नहीं । मति और श्रुतज्ञान को कैसे समान बोलते, इस विषय का अलग से प्रकरण आयेगा, पर सामान्यतया यह समझ लो कि भले ही मतिज्ञान, श्रुतज्ञान परोक्ष हैं और साथ ही इन दोनों का विषय समस्त द्रव्य है । जैसे बतलाते हैं कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का निबन्ध असर्व पर्याय द्रव्यों में है, लेकिन फिर भी इनमें कितने भेद हैं? श्रुतज्ञान का विषय तो उतना है जितना कि केवलज्ञान का विषय है । फर्क यह बताया है कि केवलज्ञान प्रत्यक्ष जानता और स्पष्ट जानता, और श्रुतज्ञान परोक्षरूप से सबको जानता, जैसे कि अगर ऐसा श्रुतज्ञान से जान लिया कि सब अनेकान्तात्मक है सत् होने से तो यह बतलाओ कि इसमें कौनसी चीज छूट गई? केवलज्ञान ने भी सबको जाना और श्रुतज्ञान ने इस रूप में सबको जान लिया । अब भिन्न-भिन्न अलग-अलग व्यक्ति-व्यक्ति जानने की जरूरत ही नहीं है श्रुतज्ञान में । उसने तो एक सामान्यरूप से सब कुछ जान लिया और इसीलिए आस मीमांसा में बताया है कि स्याद्वाद और केवलज्ञान इनमें साक्षात् और असाक्षात्कार का अन्तर है, पर सबको केवल जानता, सबको यह जानता है । श्रुतज्ञान ने जान लिया कि काल अनादि अनन्त है,, उसकी आदि ही नहीं, बोलो सारे काल को जान लिया कि नहीं? अब देखो उसका फर्क यह श्रुत है परोक्षरूप में । और मतिज्ञान का कितना विषय है? जो सामने चीज हो, कुछ पर्यायरूप है वही विषय है । तो विशेषता है इन दोनों में । सर्वथा समानता नहीं कह सकते । और इसके अतिरिक्त अगर मति और श्रुत में कथंचित् एकत्व कहें तब तो ठीक है, मगर सर्वथा कहे तो ठीक नहीं है । सामान्य विवक्षा में तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में ये तीन हेतु सही बन जाते हैं । इनमें साहचर्य है । वे एक में रहते हैं । इनमें समानता है, पर विशेष दृष्टि से देखा जाये तो इनमें अन्तर आता है, वह पर्याय को देखता है । तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में कथंचित् एकत्व है, कथंचित् नानात्व है, सर्वथा एकत्व नहीं । इस तरह आत्मा में जो-जो कुछ बतावेंगे, सब में कथंचित् एकत्व है, । आत्मा को छोड़कर अलग आत्मा की चीज कहाँ बसती है? पर जब भेद जानना है, विवरण समझना है तो वहाँ विशेष जानना ही होगा ।

मतिश्रुत में अभेद सिद्ध करने के लिये शंकाकार द्वारा प्रस्तुत कारण कार्यभावत्व हेतु की विरुद्ध हेत्वाभासता

**का कथन—**अब यहाँ शंकाकार एक नई बात और रख रहा है। शंकाकार कहता है कि हम तो ऐसा समझते हैं कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में कार्य कारण भाव है ना। मतिज्ञान कारण है, श्रुतज्ञान कार्य है तब ही तो बताया गया मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है। तो इससे सिद्ध हो गया कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में अभेद है। कार्य कारण भाव होने से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में एकता है, क्योंकि कार्य कारण कोई न्यारी जगह रहते हैं क्या? वह तो एक उपादान का उपादेय तत्त्व है। मगर उस उपादान को छोड़कर कारण कहीं रहता हो, कार्य कहीं रहता हो तो उनमें नानापन सिद्ध करें। जब इनमें उपादान उपादेय भाव है, कारण कार्य भाव है तो इनमें एकता है। शंकाकार की इस शंका के समाधान में कहते हैं कि तुम जो-जो हेतु देते हो उन्हीं हेतुवों से भेद भी सिद्ध हो जाता है। तुम ही खुद कह रहे हो कि मतिज्ञान कारण है, श्रुतज्ञान कार्य है, लो भेद हो गया ना, क्योंकि कारणत्व धर्मविशिष्ट चीज और कार्यत्व धर्मविशिष्ट चीज। अगर ये दोनों एक हो जाये तो कारण कार्य कहने की गुञ्जाइश ही कहाँ रही? तो कारण कार्य भेद बताकर भी मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में एकत्व सिद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि यह हेतु भी विरुद्धहेत्वाभास है, नानापन को सिद्ध करने वाला है। देखो बात बराबर चल रही है हम आपकी। भीतर क्या होता है, किस तरह से हमारा ज्ञानपरिणमन चलना है, चर्चा उसकी कर रहे। और अपने पर ही बीती हुई बात समझ में न आये या समझना न चाहें तो यह बात एक व्यामोह की है। भीतर दृष्टि दें तो सब समझ में आयेगा। इन्द्रिय और मन से जो हमने जाना वह है मतिज्ञान। जानते हैं ना, ऐसा रोज जानते हैं और तरह का जानना है कहाँ अभी? ऐसा ही तो जाना करते हैं, और मतिज्ञान से जाने हुए विषय में कुछ और विशेष समझना, सो श्रुतज्ञान है। ये दोनों बातें हम आपके २४ घंटे चल रही हैं। उसी के सम्बंध में यहाँ शंका समाधान चल रहा है दार्शनिक विधि से। यहाँ शंकाकार यह बात रख रहा कि मतिश्रुत एकदम लगातार होते हैं उनमें कारण-कार्य भाव है, इसलिए दोनों एक हैं, कुछ अलग वस्तु की चीज नहीं हैं। उत्तर यह दिया जा रहा है कि पर्यायदृष्टि से ही तो कार्यकारण भाव देखा जाता है। तो पर्यायदृष्टि से ही उसका उत्तर समझना चाहिए। जब कारणकार्य भाव देखा तो इसमें ही भेद सिद्ध हो जाता है। उपादान उपादेय भाव या कारणकार्य भाव बताना कथश्चित् भेद के बिना सम्भव नहीं है। यदि एक ही बात हो कि भेद नहीं है, अभेद है तो उसमें कारण कार्य क्या कहेंगे? एक को तो देख लो, इससे आगे अधिकार नहीं है। जितना प्रतिपादन होगा, कारणकार्य भाव बताना आदि जो कुछ कहेंगे वह भेद के बिना नहीं कह सकते। इसलिए कारणकार्य भाव का हेतु देकर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान की एकता सिद्ध करना यह विरुद्ध पड़ता है। यह हेतुविरुद्ध हेत्वाभास है। हां कथश्चित् एकता सिद्ध करेंगे तो इसमें हमें कोई अनिष्ट बात नहीं। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान एक ही आत्मा की पर्याय है, पूर्वापर होती है, उपादान उपादेय है, कथश्चित् एक हैं, मगर उपादान उपादेय भाव बताना। कारणकार्य भाव बताना यह सर्वथा एक में सम्भव नहीं है। इसी से ही भेद सिद्ध हो रहा।

**विषयाभेद हेतु बताकर मति श्रुत में सर्वथा अभेद सिद्ध करने के प्रयास की असफलता—सामान्यतया मति श्रुत ज्ञान के बारे में एकत्वविषयक चर्चा समाधान सुनकर एक प्रकरण अब और लीजिए। शंकाकार कहता है कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय एक है। और जब विषय एक है तो उनमें भेद न होना चाहिए। एक ही मान लो। मोटे रूप से तो यों समझो कि मतिज्ञान ने जिस बात को जाना, श्रुतज्ञान ने भी उसे जाना, पर**

विकार रूप में यों समझ लो कि आगे सूत्र आयेगा—“मतिश्रुतयोर्निबंधो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु ।” मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का विषय नियम कुछ पर्याययुक्त समस्त द्रव्य है । लो यह ही तो मतिज्ञान का विषय है और यह ही श्रुतज्ञान का विषय है । अब भेद की क्या गुंजाइश रही? एक ही मान लो, और जब एक मान लोगे तो इसमें ५ बातें न कहनी चाहिएं, एक ही कहना चाहिए, क्योंकि मति श्रुत तो एक हो गए, पुनरुक्त दोष आ जायेगा दो शब्द बोलने से । इस शंका के समाधान में सोचिये कि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का सामान्य से ऐसा विषय बताया है, इतने पर भी इसके विषय में कितने भेद हैं? श्रुतज्ञान तो केवलज्ञान की तरह सर्व तत्त्वार्थों को ग्रहण करने वाला है । फर्क है तो प्रत्यक्ष परोक्ष का है, पर मतिज्ञान का ऐसा विषय तो नहीं । अगर मतिज्ञान और श्रुतज्ञान—इन दोनों को एकसा विषय मान लेंगे तो अर्थ यह हुआ कि मतिज्ञान भी केवलज्ञानवत् सबको जानने वाला हो गया । ऐसा तो नहीं है । उसकी तो सीमा बनी हुई है, और स्पष्ट कहा गया है—“स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।” स्याद्वाद और केवलज्ञान सर्वतत्त्वों का प्रकाशन करने वाला है । अच्छा अनादि अनन्त किसने समझाया और उसमें झूठ क्या? यह सब श्रुतज्ञान की महिमा है । लोक और अलोक को किसने समझाया? अलोकाकाश अपरिमित है और जब श्रुतज्ञान से उसका ध्यान बने तो अपने आप समझ में आ रहा है कि हाँ उसका कहीं अन्त नहीं हो सकता । अलोकाकाश का कहीं अन्त हो तो आयेगा अलोकाकाश के बात? कुछ तो बताना चाहिए । कोई ठोस चीज आयेगी क्या? अरे, ठोस जहाँ है वहाँ भी आकाश है, और ठोस वहाँ है ही नहीं । अलोकाकाश है तो आप विकार से ही समझ जावोगे कि वह अनन्त है । तो यह बात कहना कि इन दोनों के विषय में अभेद है, इसलिए मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में एकता है, वह ठीक नहीं है । श्रुतज्ञान को बताया है कि वह सर्व व्यञ्जन पर्याय समाक्रान्त सर्वद्रव्य का ग्राही है, और यह भी कथन है कि वह केवलज्ञान की तरह समस्त तत्त्वार्थों का ग्रहण करने वाला है ।

विशाल से विशाल मतिज्ञान से भी श्रुतज्ञान की विशालता का प्रतिपादन—देखो मतिज्ञान चाहे कितना ही बड़ा हो, बड़े विशाल ज्ञान वाला मतिज्ञान है । जैसे तर्क, अनुमान, प्रत्यभिज्ञान आदि ये भी तो मतिज्ञान ही हैं । ५ ज्ञानों में जो मतिज्ञान कहा है उसका ही अनर्थान्तर है मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध आदि तो तर्क में कितना विचार चलता है? देखो सामने किसी पर्वत में धुवाँ देखा तो अनुमान बनाते हैं कि यहाँ अग्नि है धुवाँ होने से । अब देखो तर्क ज्ञान हुआ तब ही तो अनुमान हुआ और तर्क में कितना जाना? जहाँ-जहाँ धुवाँ होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है । जहाँ अग्नि नहीं होती है वहाँ धुवाँ नहीं होता है । अब बोलो जहाँ-जहाँ और वहाँ-वहाँ में कितनी समझ डाल दिया? क्या अपने घर का ही रसोईघर देखा? देखो तर्क का कितना विषय है? क्या व्याप्ति लगाया, कितना क्षेत्र बढ़ गया, कितना विशाल ज्ञान हुआ, ऐसा तर्क आदि भी श्रुतज्ञान के बराबर नहीं हो सकता, क्योंकि श्रुतज्ञान तो अनन्त व्यञ्जन पर्यायों से समाक्रान्त सर्वद्रव्यों को जानता है, क्योंकि सभी द्रव्यों में अनन्त पर्यायें हैं । सभी में प्रत्येक में ऐसा बोध करते हुए सर्वद्रव्यों को श्रुतज्ञान परोक्ष रूप से जाने तो यह इसका महान् विषय हुआ ना? सर्व अनन्त व्यञ्जन पर्यायें, व्यञ्जन पर्याय में सभी पर्याय ले लो । कोई व्यञ्जन पर्याय द्रव्य व्यञ्जन पर्याय सर्व आकार वाले, सर्व भावों वाले पर्यायों से समन्वित सारे द्रव्यों को श्रुत ने जाना, ऐसा मति नहीं जानता । मतिज्ञान तो नियत विषय को जानता है । कभी थोड़ा अन्तर आयेगा तो जरासा, जैसे

बाजार में आ रहे और न बड़े, न छोटे नींबू आपको कहीं दिख गए तो उन्हें देखकर आपके गले में खटास उतर आयी। तो भाई चखा तो है नहीं, और खट्टे का ज्ञान कैसे हो गया? तो आप जानते हैं इसे बोलते हैं अनुकूलज्ञान। जिस इन्द्रिय का जो विषय नियत है उस इन्द्रिय से जानकर दूसरे इन्द्रिय के विषय का बोध हो जाता है। यह क्वचित् होता है ऐसा, पर अपने नियतपने को नहीं छोड़ सकते, और ऐसा हो तो उसमें कुछ विचार भी आपका ज्ञान संस्कार भी साथ है सो देखो ऐसे इसका बोध होता है। तो ग्रन्थों में लिखा है कि असर्व पर्याय द्रव्यों को मति श्रुत जानता तो इतने मात्र से एक बात मत समझ लो। उनमें फर्क तो होता ही है भाई! घोड़े की भी पूँछ, गधे की भी पूँछ, अब पूँछ-पूँछ होने से दोनों एक हो जायेंगे क्या? अनेक जगह आप देख लो। कई बात सामान्यरूप से एकपने के रूप से बोला जाता है, पर क्या विशेषरूप से भी उन्हें एक समझ लोगे? तो विषय के भेद से भी मतिज्ञान और श्रुतज्ञान अभेद सिद्ध होते हैं। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में एकता सिद्ध नहीं हो सकती। एक विषय है, मगर वहाँ भी भेद पड़ा हुआ है, सर्वथा अभेद नहीं। एक ही कम्पनी में मैनेजर भी काम करता है और कोई एक मजदूर भी काम करता है। कम्पनी एक है, विषय एक है, उसी काम को बढ़ाना है। तो सामान्यतया तो एक कह दिया जाता, यह भी वहाँ काम करता, यह भी वहाँ काम करता, यों समानता तो हो गई, पर क्या एकता आ जायेगी? उनमें भेद है। तो सामान्यरूप से मतिज्ञान श्रुतज्ञान का विषय एक बताकर भी सर्वथा एक नहीं। उनमें परस्पर बहुत भेद हैं। तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान बराबर भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए उमास्वामी महाराज ने सूत्र में जो ५ ज्ञानों का निर्देश किया है वह बिल्कुल संगत है। चर्चा चले रही है इस बात की कि इससे अधिक क्यों नहीं कहा, इससे कम क्यों नहीं कहा? ५ ही क्यों बताया? ज्यादा तो कुछ मिलेगा नहीं। कोईसा भी ज्ञान बताओ, ५ में शामिल हो जायेंगे, और कम हो नहीं सकते, उसकी यह चर्चा चल रही है।

इन्द्रियातीन्द्रियनिमित्तत्व की अविशेषता दिखाकर मति श्रुत में सर्वथा अभेद सिद्ध करने का शंकाकार का विफल प्रयास—अब शंकाकार कहता है कि चलो मति श्रुतज्ञान साहचर्य से एक नहीं बना। एकत्व अवस्थान से एक नहीं बना, अविशेष से एक नहीं बनता और कार्यकारणभाव से एक नहीं बना और विषय एक है, इस तरह भी एक नहीं बना तो अब सुनो हमारा एक अन्तिम हेतु। ये दोनों इन्द्रिय और अनिन्द्रिय के अधीन हैं। मतिज्ञान भी इन्द्रिय और मन के निमित्त से होता है और श्रुतज्ञान भी। तो जब उनका निमित्तरूप एक है इसलिए दोनों एक हो जायेंगे। इनको न्यारा-न्यारा मत कहो। शङ्का की बात तो स्पष्ट है ना। याने मतिज्ञान उत्पन्न होता है तो वह भी इन्द्रिय और मन के निमित्त से होता है। बताया ही है— तदिन्द्रियातीन्द्रियनिमित्तं। और वह श्रुतज्ञान भी इन्द्रिय और अतीन्द्रिय के निमित्त से होता है। संसार के सब जीवों में श्रुतज्ञान बताया ना, और दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, एकेन्द्रिय इनके तो इन्द्रिय ही है, मन तो हैं नहीं और श्रुतज्ञान सबके कहा। देखो प्रसंग में ध्यान देने की बात एक यह है कि प्रकरण चल रहा है सम्यक् श्रुतज्ञान का। यह श्रुतज्ञान मन वाले के होता और सामान्यतया श्रुतज्ञान सब छद्मस्थ संसारी जीवों के होता, इसमें विरोध नहीं है, पर श्रुतज्ञान श्रुतज्ञान में ही फर्क है। सम्यग्ज्ञान श्रुतज्ञान इन्द्रिय से नहीं होता। वह मन से ही होता है। तो यहाँ प्रकरण चल रहा है सम्यग्ज्ञान का। याने जिन प्रमाण और नयों से तत्वार्थ का अधिगम होता है उन प्रमाण और नयों

का विश्लेषण चल रहा है। तो इस प्रथम अध्याय में जितनी प्रमाण की बात कही जाये वह सब सच है। और जितने नयों का निर्देश किया जाये वह सब सच है। सत्य उपाय द्वारा सत्य का ज्ञान कराया जा रहा है, क्योंकि संकल्प है ऐसा कि तत्त्वार्थ का अधिगम प्रमाण और नयों से सही होता है उसी प्रमाण के विवरण में यह सूत्र है, श्रुत प्रमाण है। तो यह श्रुतज्ञान इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं रखता। मतिज्ञान तो इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होता है। किन्तु श्रुतज्ञान इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं रखता। वह मन विचार-पूर्वक होता है, अतएव निमित्त की एकता सिद्ध नहीं होती। और भी बात देखो, कोई अगर ऐसा कहे कि मतिज्ञानपूर्वक तो श्रुतज्ञान होता और मतिज्ञान इन्द्रिय और मन से होता और मतिपूर्वक श्रुत होता तो इन्द्रिय निमित्तत्व तो हो ही गया। हां-हां हो गया। मगर साक्षात् नहीं हुआ। साक्षात् तो इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं रख रहा। पहली परम्परा से अगर इन्द्रिय सापेक्ष कहो श्रुतज्ञान को तो इसमें कोई बाधा नहीं। तब देखो इन्द्रिय सापेक्ष भी कहा तो ये दो भेद तो डालने ही पड़ेंगे। मतिज्ञान तो साक्षात् इन्द्रियापेक्ष है और श्रुतज्ञान असाक्षात् इन्द्रियापेक्षी है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को एक कैसे कहा जा रहा?

ईहादिज्ञान और श्रुतज्ञान में अनिन्द्रियनिमित्तत्व बताकर भी मतिश्रुत में अभेद सिद्ध करने का दुराग्रह—शङ्काकार जिज्ञासु पुरुष वह होता है कि जहाँ तक शङ्का हो, संदेह हो, दम हो, शक्ति हो, बराबर निपटारा करने के लिए पूछता ही जाये। अब इस प्रसंग में शङ्काकार यह कहता है कि देखो मतिज्ञान ४ प्रकार का है—(१) अवग्रह, (२) ईहा, (३) अवाय और (४) धारणा। इनमें से अवग्रह की बात, तो छोड़ दो, मगर ईहा, अवाय, धारणा ये मन हुए और श्रुतज्ञान भी मन से हुआ। यह विषय चल रहा है सम्यग्ज्ञान के प्रकरण का, यह बात ध्यान में रखते हुए सब सुनना है। देखो इन चार का क्या मतलब? सबके हो रहा है यह काम और खबर नहीं है कि हम क्या कर रहे? कुछ ऐसा ढंग बन रहा जैसे कि स्त्यानगृद्धि होती है न याने सोते हुए में कहीं कोई काम कर आवे और वहाँ से आकर फिर सो जाये, उस किए हुए काम का पता ही उसे न रहे तो यह स्त्यानगृद्धि है। हमारी एक ऐसी विद्यार्थी अवस्था की घटना है कि हमसे एक दिन सुबह छात्र लोग कहने लगे कि तुम रात को करीब १२—१ बजे मन्दिर के द्वार के किवाड़ क्यों खटखटा रहे थे? हमने कहा कि हम तो नहीं खटखटा रहे थे। तो हो सकता है ऐसा कि हमारे छात्रावास के कमरे के पास ही तो मन्दिर था। हम रात को सोते हुए में मन्दिर के द्वार पर पहुंच गए होंगे और किवाड़ खटखटाया होगा, बाद में जाकर फिर सो गए होंगे, उसका मुझे कुछ पता नहीं। तो कभी-कभी ऐसा हो जाता है। इसे कहते हैं स्त्यानगृद्धि। तो मानो जगते में भी ऐसे ही काम सारे कर रहे हम अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा करते रहते हैं, पर इनका पता नहीं है। कोई चीज देखकर प्रथम ही प्रथम जो आभास होता है वह अवग्रह है। अवग्रह इतना कमज़ोर ज्ञान है कि उसके बाद संशय भी सम्भव हो सकता है कि यह अमुक है कि अमुक। हालांकि संशय यहाँ नहीं है, मगर अवग्रह के बाद ऐसा कुछ समझने वाला ज्ञान होता है कि जिसमें यह समझ आती कि यह होना चाहिए। यह ही है ऐसा निर्धारण तो अवाय में है, मगर यह होना चाहिए, इस तरह का विचार ईहा में है। देखो ईहा में भी खोटा नहीं जाना। जो है उसे ही जाना। गलत नहीं जाना और अवाय में निश्चय से जाना। और ईहा में संशय

नहीं है, मगर उसके जानने की शैली इस प्रकार है कि यह-यह होना चाहिए। दूसरी बातें चित्त में नहीं हैं। मगर इसके बाद जब अवधारण होता है कि यह है, यह अवाय हो गया। और जब धारणा हो गई तो धारण बन गई। बोलो होता है कि नहीं ऐसा। तो उनमें से ईहा ज्ञान विचारपूर्वक होता है। तो ईहा में और श्रुतज्ञान में तो अन्तर न रहा। शंकाकार कह रहा कि अवग्रह करे तो बोल दो, इन्द्रिय से भी होता, मन से भी। ईहा में तो विचार चल रहा है। उसमें और श्रुतज्ञान में अभेद है इसलिए एकत्व है। समाधान यह है कि इस रीति से भी उनमें एकता नहीं है, क्योंकि ईहा की अपेक्षा श्रुतज्ञान बहुज्ञानी है और इस विषय को आगे स्पष्ट करेंगे। समाधान में सामान्यतया यह समझ लें कि ईहा तो एक विषय में नियत विषय को ही ज्ञान में ले रहा है और श्रुतज्ञान का विषय तो अनियत है। उसकी बराबरी ईहाज्ञान करेगा क्या? जैसे कह देते ना? कहाँ राम भगवान और कहाँ साधारण आदमी? तो कहाँ तो श्रुतज्ञान महा विषय वाला और कहाँ ईहा जैसी छोटी चीज़? इस कारण मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में एकत्व सिद्ध नहीं कर सकते। तो उमास्वामी ने जो ५ ज्ञान बताया है वह बिल्कुल ठीक है और बहुत ही संगत है।

श्रवणनिमित्तकत्व हेतु देकर शंकाकार द्वारा मति श्रुत में अभेद सिद्ध करने का विफल प्रयास—“मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्।” इस सूत्र के प्रसंग में शंकाकार कोशिश कर रहा है कि इतना बड़ा सूत्र न बनाना चाहिए, उसमें से मति, श्रुत इन दो में से एक कोई हटा लेना चाहिए। कारण यह है कि मति और श्रुत एक ही चीज़ है, अभेद है। इस शंका के प्रसंग में जो-जो हेतु आये थे उनका निराकरण किया। अब एक हेतु और दिया जा रहा है। शंकाकार कहता है कि मति और श्रुतज्ञान तो एक ही चीज़ है, कारण कि मतिज्ञान भी श्रवण के निमित्त से होता है और श्रुतज्ञान भी श्रवण के निमित्त से होता है अर्थात् कर्णेन्द्रिय द्वारा मतिज्ञान भी बनता है और श्रुत में तो नाम ही धरा है। उनका श्रवण तो श्रुतपद बताता ही है। तो इस तरह श्रवणनिमित्तक होने से इन दोनों में एकता है। देखो शंकाकार ऐसा हेतु दे रहा है कि जिन हेतुवों से कुछ-कुछ ठीक जंचने लगे कि बात तो सही है, एक ही बात है। यह शंकाकार का अन्तिम प्रयास है। सोचिये—समाधान यह है कि श्रुतज्ञान साक्षात् कर्णेन्द्रिय निमित्तक नहीं है, किन्तु श्रुतज्ञान एक तो मनोविचारपूर्वक चलता है। यह श्रुतज्ञान सम्यग्ज्ञान के प्रकरण में है और सम्यग्ज्ञान कभी असंज्ञी जीव के नहीं होता। उस श्रुत की यह बात चल रही है। और रहा सामान्य श्रुत तो उसका यह प्रसंग नहीं है। जिसको प्रमाण माना जा रहा है उस श्रुतज्ञान के बारे में यह शंका है। मति और श्रुत है एक श्रवणनिमित्तक होने से। मगर उत्तर यह सोचा जा रहा है कि तुम्हारा हेतु असिद्ध हेत्वाभास है, अर्थात् हेतु ही सिद्ध नहीं है। श्रुतज्ञान श्रवणनिमित्तक नहीं होता, क्योंकि वह अनिन्द्रियवान है और अदृष्ट अर्थ को जानता है और सजातीय विजातीय नाना अर्थों को जानता है। इस श्रुतज्ञान को श्रवणनिमित्तक कैसे कहते? उसका स्वभाव तो विलक्षण है।

श्रुतज्ञान को श्रवणनिमित्तकत्व मानने में अन्य इन्द्रियज मतिपूर्वक श्रुत में या अनिन्द्रियज श्रुत में श्रुतज्ञानत्व की असिद्धि का प्रसंग—अब दूसरी बात सोचो, यदि ऐसी ही हठ की जाये कि चूंकि सुनकर ही तो अवधारण होता है, इस कारण से श्रुतज्ञान कर्णेन्द्रिय निमित्तक है। ऐसा कहने वाले यह बतलाये, जो यह कहा जा रहा कि सुन करके ज्ञान दिया गया है श्रुतज्ञान में, इसलिए श्रुतज्ञान श्रवणनिमित्तक है, श्रवण मायने सुनना। तो वे

यह बतलायें कि सुनने के बाद जो श्रुतज्ञान बनता है तो उस शब्द का ही निर्णयरूप श्रुत बनता है या शब्द के वाच्यभूत अर्थ के निर्णयरूप श्रुत बनता है । ध्यान से सुनने की बात है, कठिन नहीं है । सुन करके निश्चय होता है श्रुतज्ञान में । ऐसा कहने वाले यह बतलायें कि सुन करके किसका निश्चय होता है? जो शब्द बोला उस शब्द का निश्चय होता है या उस शब्द का वाच्यभूत जो अर्थ है उसका निश्चय होता है । अगर कहो कि सुन करके शब्द का निश्चय होता है तो यह बात तो मतिज्ञान में ही हो जाती है, और कहो कि सुन करके अर्थ का निश्चय होता है तो अब वह श्रवणनिमित्तक नहीं रहा । श्रवणनिमित्तक तो रहा मतिज्ञान और मतिज्ञानपूर्वक हुआ श्रुतज्ञान । कैसे श्रवणनिमित्तक कहकर मति और श्रुत में अभेद सिद्ध नहीं होगा । दूसरी बात—थोड़ी देर को कुछ समय मान लो सुनकर जाने सो श्रुतज्ञान, तो इसके मायने यह हुआ कि जो इन्द्रिय से बने और मन से बने । तो वह श्रुतज्ञान न रहा क्या? केवल सुनने की बात से ही तो श्रुतज्ञान नहीं होता, स्पर्शन के बाद भी होता, रस के बाद भी होता । अंधेरे में जब कुछ दिखता नहीं है और टटोल रहे हैं और कोई चीज कोमल कोमलसी हाथ में आ गई तो निर्णय करते हैं कि यह तो मखमल है । अब स्पर्शन से तो कोमल स्पर्श जाना, मगर उसके बाद यह मखमल है, यह अमुक चीज है, ऐसा जाना जाता है ना । देखो कड़ी कड़ी लगी यह तो हो गया मतिज्ञान । जान लिया यह बड़ी है, यह श्रुतज्ञान हो गया । तो कर्णन्द्रिय के बाद ही हो यह तो नियम न रहा, स्पर्शन के बाद भी हो गया, रसना के बाद भी हो गया । अंधेरे में आम चूस रहे और बतलाया, यह तो और आमों से अधिक रसीला है, यह तो बहुत बड़ा आम है, यह तो अमुक जाति का है । श्रुतज्ञान हो गया । तो रसनाइन्द्रिय के प्रयोग के बाद भी तो श्रुतज्ञान होता है । सभी इन्द्रियों के बाद श्रुतज्ञान हो सकता । अगर श्रवणनिमित्तक श्रुतज्ञान है, ऐसा कहेंगे तो बाकी श्रुतज्ञान को क्या कहेंगे, बाकी के श्रुतज्ञान का विच्छेद हो जायेगा । और देखो श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक भी होता है और श्रुतज्ञान श्रुतज्ञान पूर्वक भी होता है, उसका निमित्त इतनी दूर पड़ जाता है कि कितने ही श्रुतों के बाद श्रुत हो रहा । जैसे आंखों से देखा, यह तो मतिज्ञान है और यह घड़ी है यह है श्रुतज्ञान और उसकी बनायी है, वहाँ मिलती है ऐसे बनायी जाती है, हर जगह अलग-अलग एक-एक पुर्जे के कारखाने हैं, उन सबको जोड़ा जाता है, उनका उससे निर्माण होता है । अब देखो जितने श्रुत होते जा रहे हैं, वे सब श्रुत पूर्वक होते जा रहे, इन्द्रिय का काम नहीं । तो ऐसे ही जो श्रुत हो रहे वे कुछ न रहेंगे, इसलिए श्रवण निमित्तक हेतु बताकर मति और श्रुतज्ञान को एक कर देना और सूत्र को गलत बता देना यह संगत नहीं है ।

**श्रुत शब्द की उपलक्षणार्थकता में संगति—**यदि ऐसा कहो कि वह तो एक उपलक्षण की चीज है । सुन करके जाने सो श्रुत, इसे उपलक्षण कहा तो ठीक है । उपलक्षण उसे कहते कि कहें तो एक बात और समझ ले कई बात । जैसे कोई दही मथ रहा था और कोई काम ऐसा पड़ा कि मटकिया छोड़कर दूर जाना पड़ा । तो बच्चे से कहता—देखो दही देख लेना, कौवा न खा जाये । अब वह बच्चा देख रहा कि कौवा न खा जाये और अगर बिल्ली, कुत्ता वगैरह खा आये तो क्या उन्हें वह बच्चा न भगायेगा? अवश्य भगायेगा । तो देखो कहा तो थोड़ा गया, मगर समझना चाहिए समग्र । इसी को कहते हैं उपलक्षण । तो अगर उपलक्षण से यह अर्थ बना दे—जो सुनता हो, जो जाने सो श्रुत, मायने सुनकर, देखकर, सूँघकर, विचारकर जो विशेष परिचय बनाया सो

श्रुतज्ञान । तो कोई आपत्ति नहीं, फिर तो रास्ते पर आ गए । हां उपलक्षण किसलिए किया जाता कि प्रतिपत्ति का गौरव न होने के लिए भारी शब्द न बोलना पड़े । अब जैसे अंग्रेजी शब्दों की हिन्दी बनायी जाती है तो कई तो बहुत अच्छे बन जाते हैं । जैसे इंजीनियर, उसका शब्द है अभियंता, एकज्यूकिटिव याने अधिशासी । अब ऐसा चलते-चलते ऐसी बात आयी कि चाय, इसकी भी जरा हिन्दी बना दो । कितनी जल्दी बोलते चाय । अब हिन्दी बनाने बैठे—दुग्धशर्करामिश्रितसंतस विशिष्टपत्रतोयं मायने चाय । अब भला बताओ कोई गाड़ी से उतरकर चाय लेने जाये और वह उतना बड़ा शब्द बोले, फिर चाय ले तो इतनी देर में तो कहो गाड़ी छूट जाये । तो शब्द होता है किसलिए कि जानकारी हो जाये । शब्दों की पूछा-पाछी नहीं की जाती अधिक । शब्दों से अर्थ के आशय का बोध होता है । शब्द पार न करेंगे । पार तो ज्ञान करेगा और उस ज्ञान को समझाने के लिए शब्द माध्यम हैं । तो इसी कारण यह उपलक्षण की बात चला करती है । यदि उपलक्षण से श्रुत को ऐसा बोल दे तो संगत बैठ जायेगा, मगर हठ बनाकर कि नहीं, श्रुत में तो जब श्रुत धातु का शब्द दिया है तो हम उस श्रुत का ही अर्थ लगायेंगे—सुनना । श्रुत्वावधारण सो ही श्रुत । ऐसी बात नहीं बनती । तो इस तरह श्रुतज्ञान में व मतिज्ञान में अभेद सिद्ध नहीं है । सामान्यतया अभेद है और विशेषदृष्टि से भेद है । तब यह निर्णय रखें कि जैसे श्रुतज्ञान से अवधि, मनःपर्यय केवल भिन्न, पर्याय है इसी प्रकार मतिज्ञान भी श्रुतज्ञान से भिन्न पर्याय है । इसी प्रकार मति ज्ञान भी श्रुतज्ञान से भिन्न पर्याय है । भेद जाना जाता है स्वलक्षण से ।

मूल में द्रव्यदृष्टि व पर्यायदृष्टि द्वारा अखण्ड स्वभाव व अखण्ड पर्याय की सूचना—देखिये यह तो आचार्यसंतों की करुणा है और मूल में देखो तो वस्तु में एक तो है स्वभाव और दूसरी बात है पर्याय । स्वभाव भी अभेद है और पर्याय भी । जिस क्षण पदार्थ में जो पर्याय है उस समय वह पर्याय अखण्ड है । उनमें भेद डालना केवल समझाने के लिए है कि यह ज्ञान गुण की पर्याय, यह दर्शनगुण की पर्याय, यह अमुक गुण की पर्याय । जैसा स्वभाव है वैसी ही पर्याय है । जैसे स्वभाव को मना नहीं किया जा सकता वैसे ही पर्याय को मना नहीं की जा सकता । ये वस्तु की दो बातें अकाद्य हैं । इतना तो हम सोच सकते हैं कि स्वभाव में भेददृष्टि करके गुण की सिद्धि की । पर अखण्ड पर्याय मानने में हम ऐसी कोई भेददृष्टि की बात नहीं सोच सकते जिससे कि गुण की तरह नानापन बन सके । हाँ, एक अखण्ड पर्याय में, अनेक पर्याय मानने में वहाँ गुण की तरह भेददृष्टि जगती है । जैसे स्वभाव को खण्डित करके गुण के रूप में पेश किया जाता है इसी तरह प्रति समय की अखण्ड पर्याय का खण्डन करके यह अमुक गुण की पर्याय अमुक गुण की पर्याय यों खण्ड हो जाते हैं । वस्तु के दो अंश है—(१) स्वभाव और (२) पर्याय । अब इनमें जो स्वभाव का एकांत करते हैं और पर्याय को असत्य कहते हैं, उनका नाम है नित्यत्वैकांतवादी ब्रह्मद्वैतवादी आदि । और जो पर्याय का एकांत करते वे हैं क्षणिकवादी बौद्ध । अब कभी-कभी ऐसा हो जाता कि जब दार्शनिक क्षेत्र का परिचय नहीं होता तो बात बोलते जाते और खुश होते जाते और यह पता नहीं पड़ता कि इसमें कौनसा मत आ गया, कौनसा दर्शन है? तो स्याद्वाद सबकी गुरुथी सुलझाता है । अब यह बात तो प्रयोजन की है कि हम पर्याय की दृष्टि न रखें । जो क्षणिक है, मिट जाता है उसकी ही हम दृष्टि रखें, लक्ष्य रखें । उससे चिपटे रहें तो हमारा सुधार न होगा । हम को गैल मिलेगी, सुधार होगा, मग्नता होगी तो स्वभावदृष्टि करने से होगी । तब पर्यायदृष्टि हमें अप्रयोजनवान् हुई और

द्रव्यदृष्टि प्रयोजनवान् हुई । और देखो जितना कथन है आगम में वह इन दो नयों के आधार पर है और इन दो का पर्यायान्तर है—अभेद और भेद । कभी दो बात कही जाये तो उनकी आधारभूत दृष्टि ये दो जरूर लगानी हैं । द्रव्यदृष्टि से यह है और पर्यायदृष्टि से यह है । अब जैसे क्षणिकवादी कहते हैं कि क्षण-क्षण में नया-नया जीव होता है, उसके पहले जीव से कुछ मतलब नहीं । सत्ता तो उसकी भिन्न है । अच्छा और यह ही बात जैन शासन भी कहता कि प्रति समय की अवस्था के भेद से वे सब भिन्न-भिन्न हैं । मगर यह द्रव्यदृष्टि आशय में साथ लगी है, पर्याय दृष्टि से तो ऐसा है, पर द्रव्यदृष्टि से अन्वित है, संतानरूप है । तो जब जिस दृष्टि का प्रयोजन हो उस दृष्टि से बात करें, मगर उसके प्रतिपक्ष जो दृष्टि है उसको असत्य कहकर आगे न बढ़ो, वह है मगर हम बात इसकी कर रहे हैं ।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के एकत्र व नानात्व का उपसंहारात्मक कथन—अब बतलाओ मतिज्ञान, श्रुतज्ञान एक हैं कि भिन्न-भिन्न? जिस दृष्टि से लाभ मिले उसे मुख्य करो अन्य को गोण कर दो । तो एक दृष्टि से तो यह जंचता है कि वह ऐसा एक है कि मति, श्रुत ही क्या? मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल—ये सब एक हैं और इससे गहरे चले तो हमें ज्ञान भी नहीं दिखता । ज्ञान गुण है आत्मा का । ज्ञानगुण देखा तो यह भेद मान लिया, दर्शन भी गुण है, और भी गुण हैं । उनमें से एक ज्ञान भी गुण है । अच्छा और गहरे चलें तो हमें चेतन भी नहीं विकल्प में आता कि यह चेतन है । तो क्या आता? आनन्द भोग रहे । कौन सा आनन्द? सहज, अलौकिक विलक्षण । वह प्रतिभास बिना होता नहीं, ऐसा प्रतिभास रूप पर्याय चलता है । देखो जिसको जो मीठी चीज लगती हो, चाहे रसगुल्ला रख लो सांसारिक सुख के दृष्टान्त में, उसे आप खा रहे हों तो जब तक आप गप्प-सप्प करेंगे तब तक उसका पूरा आनन्द आप नहीं पा सकते । इसमें इतना खोवा है, इतना मैदा है, इतना धी पड़ा है, इतनी शक्कर पड़ी है.... इस प्रकार की चर्चा ही यदि आप करते रहे तो उसके खाने में आपको उत्कृष्ट स्वाद न आयेगा । और अन्य विकल्प न कर आंखें मोंचकर दांतों से चबाकर यों ही गुटकते जाये, उसका रस चूसते जाये तो वहाँ आपको उस रसगुल्ले का आनन्द मिलेगा । तो जब संसारसुख में वह चर्चा आपके आनन्द को न्यून कर देती है तब धर्मचर्चा भी सहज आनन्द को न्यून कर देती । स्वभावदृष्टि करो, अन्य दृष्टि करके उसकी कुछ भी चर्चा मत करो, मन में मत गुनगुनाओं कि मैं चित्स्वरूप हूँ, ज्ञानस्वभावरूप हूँ । यदि इतनी भी बात रही तो आत्मा का सहज आनन्द नहीं लूट सकते । भोजन बनाया जाता खाने के लिए और भोजन बनाकर फिर खाये नहीं तो उसे क्या बोलते? अविवेकी । तो धर्मचर्चा की जाती है निर्विकल्प होने के लिए । तो चर्चाओं का भोजन तो तैयार कर लिया और निर्विकल्पता के प्रयोग में आना नहीं चाहते, याने उसका लक्ष्य नहीं बनाते कि मेरे को तो ऐसा होना है । अगर ऐसा लक्ष्य हो कि मेरे को तो ऐसा होना है, तो वह पहली बातों की बेपरवाही कर जायेगा । मेरा कुछ नहीं है, द्रव्य गुण पर्यायदृष्टि में नहीं । एक ज्ञानमात्र अन्तस्तत्व की ही उसके धुन बन जाती है । तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में अभेद है सामान्यदृष्टि से, अभेददृष्टि से । और भेद है पर्यायदृष्टि से, विशेषदृष्टि से । जैसे श्रुतज्ञान से अवधिज्ञान भिन्न है ना? भाई कैसे भिन्न बताया? साधन भिन्न हैं, उसके लक्षण जुदे हैं, उसके प्रदेश जुदे हैं तो ऐसे ही तो श्रुतज्ञान का, मतिज्ञान का साधन जुदा है, स्वरूप जुदा है । उसे कहाँ एक अवस्था कहेंगे? तो जो सूत्र बताया गया है कि मतिज्ञान, श्रुतज्ञान,

अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान, ये ५ ज्ञान हैं सो ठीक है, ये ५ पर्यायें हैं।

ज्ञानविशेषों की संख्या का परिमित अवधारण—देखो अनेक दार्शनिकों ने और-और तरह से प्रमाण के नाम पेश किए हैं, मगर उनमें कई ज्ञान तो छूट जाते हैं और कई ज्ञान पुनरुक्त हो जाते हैं। यह चर्चा आगे के सूत्र में करेंगे। विषय यह लम्बा है कि कैसे अन्य दार्शनिक प्रमाण मानते हैं और वह संख्या कैसे अटपटी बन जाती है? यहाँ ५ प्रमाण, ५ ज्ञान कहा, तो बिल्कुल संगत है। हम आप लोगों में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान है। और जो विशेष क्षयोपशम वाले हैं और विशुद्धि पाये हुए हैं उनके अवधिज्ञान होता है, और जो ऋद्धिधारी मुनीश्वर हैं उनके होता है मनःपर्ययज्ञान। मनःपर्ययज्ञान का साधन दूसरा है, स्वरूप दूसरा है, लक्षण दूसरा है, पञ्चति दूसरी है। और केवलज्ञान यह तो एक विलक्षण ही है। निरपेक्ष ज्ञान, जहाँ केवलज्ञान है वहाँ फिर किसी ज्ञान की आवश्यकता नहीं लब्धि या आगे पीछे। जो केवली है सो प्रभु है। केवलज्ञान के बाद फिर दूसरा ज्ञान नहीं होता, वही चलता रहता है। इस तरह इस सूत्र में यहाँ तक इन ५ पदों की सार्थकता बतायी। अब इसके बाद इस सूत्र में केवल दो विचारणीय प्रश्न रह गए। एक प्रस्ताव तो ऐसा कि जैसे कोई दार्शनिक कहते हैं कि जिस ज्ञान के द्वारा हम पदार्थ जानते हैं तो पदार्थ तो साफ ज्ञान में आता है, स्पष्ट है, मगर जिस ज्ञान के द्वारा जानते वह ज्ञान परोक्ष है तो किसी को बोध नहीं होता। एक शंका यह आ रही। दूसरी शंका यह आयेगी कि अरे कहाँ लगे फिर रहे? ज्ञान तो अचेतन है, प्रकृति का धर्म है। तो इन शंकाओं का वर्णन व निवारण अब आगे आयेगा।

**करणभूत ज्ञान के अप्रत्यक्षत्व का मीमांसकों द्वारा प्रस्ताव—‘मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानं’** इस सूत्र में ज्ञानसामान्य का संकेत है और ज्ञान विशेषण के नाम हैं। ये पांचों ही ज्ञान हैं। ज्ञान किसे कहते हैं? जो जाने सो ज्ञान। जिसके द्वारा जाना जाये सो ज्ञान, ऐसे ही ज्ञान के स्वरूप के सम्बंध में अब यहाँ कुछ चर्चायें आ रही हैं। यह आत्मा जानता है, ज्ञान के ही द्वारा जानता है, पदार्थ को जानता है और जानना होता है। इसमें आत्मा कर्ता हुआ, ज्ञान के द्वारा यह करण हुआ, पदार्थ को यह कर्म हुआ और जाता है यह क्रिया हुई। इन चारों के प्रकरण में यहाँ मीमांसक सिद्धान्तानुयायी यह बात रख रहे हैं कि देखो जिस पदार्थ को जाना वह पदार्थ तो प्रत्यक्ष हो गया, स्पष्ट हो गया, खूब समझ में आ गया, मगर जिस ज्ञान के द्वारा जाना वह ज्ञान परोक्ष ही रहता है। जानने में पदार्थ आया, पर जिस ज्ञान के द्वारा जाना वह ज्ञान जानने में नहीं आता। जैसे बहुतसी बातें मिलती हैं। जैसे लोग दिन-भर काम करते हैं, सूर्य को जो एक बार भी नहीं देखते, तो भले ही एक बार भी सूर्य को दिन भर नहीं देखते, फिर भी वे सब पदार्थों को देख रहे हैं। यों जिसके द्वारा प्रकाशित हुआ पदार्थ उसे तो वे नहीं देख रहे और प्रकाशित पदार्थों को देख रहे। तो इसी तरह जिस ज्ञान के द्वारा जानते हैं वह ज्ञान तो रहता है परोक्ष और जो पदार्थ जान लिया गया वह ह जाता है प्रत्यक्ष। इस तरह करण ज्ञान परोक्ष ही होता है, ऐसा मीमांसक का सिद्धान्त है।

**मीमांसकों द्वारा प्रस्तुत ज्ञान के अप्रत्यक्षत्व के प्रस्ताव का स्पष्टीकरण—उक्त चर्चा के सम्बंध में यह जानना कि यहाँ दो प्रकार के मीमांसक होते हैं—भट्ट और प्रभाकर। भट्ट तो मानते हैं कि आत्मा प्रत्यक्ष होता है और पदार्थ प्रत्यक्ष होता है, पर ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता और न फलज्ञान प्रत्यक्ष होता है, किन्तु प्रभाकर मानते हैं कि**

फलज्ञान प्रत्यक्ष होता और पदार्थ प्रत्यक्ष होना । आत्मा और ज्ञान ये प्रत्यक्ष में नहीं आते । देखो, मीमांसकों में बाहरी बातें तो सब एक हैं—किया, आचरण एक समान है और सिद्धांत में ऐसा भेद है । तो यहाँ मीमांसकों ने क्या बात रखी कि ज्ञान के द्वारा हम पदार्थ को जान जाते हैं । तो पदार्थ तो हमें साफ नजर आता है, पर ज्ञान नजर नहीं आता, ज्ञान स्पष्ट नहीं होता, ज्ञान परोक्ष रहता है । ज्ञान का जानना नहीं हुआ करता । पर ज्ञान के द्वारा पदार्थ का जानना हुआ करता है । देखो यह बात ज्ञान के ज्ञानत्व के खिलाफ कही तो जा रही है, और प्रायः बहुत से लोग सोच रहे होंगे कि बेचारा ठीक तो कह रहा, जब आंखें खोलते हैं तो पदार्थ एकदम दिख जाते और ज्ञान की कौन खबर रखता है?

ज्ञान की अप्रत्यक्षता मानने पर ज्ञेय पदार्थ के भी अप्रत्यक्षत्व के नियम का प्रसङ्ग—अब यहाँ यथार्थता क्या है, सो समझिये—सीधा उत्तर यह है कि जिस ज्ञान के द्वारा पदार्थ जाना, यदि उस ज्ञान का ज्ञान नहीं है तो फिर पदार्थ का भी ज्ञान नहीं हो सकता । भले ही कोई इस ओर उपयोग न दे और सीधा मान ले कि प्रत्यक्षपना होता है पदार्थ का । ज्ञान का प्रत्यक्षपना नहीं होता । जैन सिद्धांत में जो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, परोक्ष ज्ञान कहे हैं सो पदार्थ को जानने के लिए परोक्ष हैं, मगर खुद खुद के लिए प्रत्यक्ष है । और यहाँ यह बात कह रहे हैं मीमांसक कि पदार्थ के जानने की जहाँ तक बात है वहाँ तक तो प्रत्यक्ष है और जहाँ खुद ज्ञान को जानने की बात है, वहाँ परोक्ष है । बात क्या चल रही है कि जिस ज्ञान के द्वारा हम जानते हैं यह घड़ी है तो घड़ी है, इसका भी स्पष्ट ज्ञान होता, इसे बोलते हैं एकदेशविशद । और जिस ज्ञान के द्वारा जाना वह ज्ञान हमारे अपने आप में तो स्पष्ट है—ज्ञान के द्वारा जाना । किन्तु मीमांसक का यहाँ यह कथन है कि ज्ञान तो स्पष्ट नहीं होता, किन्तु पदार्थ स्पष्ट हो जाता है, ऐसा कहने वाले मीमांसक स्वयं अपने आप अपने पैर पर कुल्हाड़ी मारने जैसी बात कर रहे हैं, सो कैसे? पहली बात तो यह है कि इसके लिए अनुमान या युक्ति क्या देना? सभी लोग जानते हैं अपने-अपने आत्मा में कि मेरे में ज्ञान है । यह ज्ञान इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जाता । इन्द्रियों द्वारा बाह्य पदार्थ जाने जाते हैं । ज्ञान तो खुद को जान लेता है । जैसे किसी कमरे में कोई आदमी खड़ा है और उस कमरे में खिड़कियां हैं तो बाहर की चीजों के जानने के लिए खिड़कियों का सहारा लेना होगा, पर खुद को जानने के लिए क्या खिड़कियों की जरूरत है? और खुद को तो स्वयं जान ही रहा है, यदि बाहर की चीजें जाने तो खिड़कियों द्वारा जाने । इसी तरह बाहरी पदार्थों को जाने तो यहाँ इन्द्रिय और मन व इन्द्रिय के निमित्त से जाने, पर खुद को जानने के लिए इन्द्रिय मन की खिड़कियों की जरूरत नहीं होती । चाहे मतिज्ञान हो, चाहे श्रुतज्ञान हो । ये परोक्ष कहलाते हैं । इस कारण कि ये उत्पत्ति में पराधीन हैं याने इन्द्रिय और अनिन्द्रिय का निमित्त पाकर होते हैं इसलिए परोक्ष हैं और इसी कारण पदार्थ का स्पष्ट बोध भी नहीं होता, पर ज्ञान खुद को जाने इसके लिए परोक्षता नहीं है । यह स्वयं प्रत्यक्ष आत्मा है, और ज्ञान भी प्रत्यक्ष है । तो जैसे हम अपने बारे में परख लेते हैं कि मैंने और ज्ञान द्वारा जाना ये दोनों प्रत्यक्ष हैं याने सबको स्वसंवेद्य है, प्रत्यक्ष आंखों से देखने का नाम नहीं, किन्तु समझ में आया स्पष्ट उसका नाम है प्रत्यक्ष । प्रत्येक आत्मा जानता मैं-मैं, मैं आया, मैं हूँ, इसको मैंने किया । तो उस मैं का अनुभव किसी न किसी तरह सबको हो रहा । चाहे अन्यरूप में अनुभव करे, चाहे अहं रूप से अनुभव करे ।

ज्ञान की अवेद्यता होने पर सुख दुःख आदि के अनुभव की अशक्यता—अहं का अनुभव यदि नहीं है तो दुःख भी नहीं हो सकता। अहं का अनुभव नहीं है तो न सुख हो सकता और न आनन्द ही हो सकता। दुःख, सुख, आनन्द इनमें अन्तर है। दुःख तो कहलाता है वह जो इन्द्रिय को सुहावना न लगे, ख मायने इन्द्रिय, दु मायने असुहावना। जैसे दुर्जन मायने खोटे जन, मायने असुहावने जन। ऐसे ही दुःख मायने जो इन्द्रियों को असुहावना लगे। और जो इन्द्रिय को सुहावना लगे वह है सुख और आनंद जहाँ आकुलता नहीं है उसे कहते हैं आनन्द। आनन्द है आनन्द गुण की स्वभाव पर्याय और दुःख सुख हैं आनन्दगुण की विभाव पर्याय। दुःख में भी आकुलता, सुख में भी आकुलता और दुःख की अपेक्षा सुख में इतनी विकट आकुलता रहती है कि उस आकुलतापूर्वक सुख भोगने वाले लोग लोगों की निगाह में पागल और बेवकूफ नजर आने लगते हैं, इतनी आकुलता रहती है और ऐसी आकुलता से सुख भोगते हैं। तो कोई आनन्द पाये तो अहं के अनुभव बिना नहीं पा सकता, कोई दुःख पाये तो अहं के अनुभव बिना नहीं पा सकता और कोई सुख पाये तो वह भी अहं का अनुभव किए बिना नहीं पा सकता। जो अहं का अनुभव अहं में अहं के स्वरूपरूप कर रहा है उसे तो आनन्द मिलता है और जो अहं का अनुभव पर्याय में कर रहा है उसे दुःख सुख मिलता है। तो अहं का ज्ञान सबको है। तो खुद के लिए तो सबने समझा लिया कि मैं आत्मा प्रत्यक्ष हूँ और मेरे में जो ज्ञान होता है जिसके द्वारा जानता हूँ वह भी प्रत्यक्ष है। ज्ञान और आत्मा जुदे तो नहीं हैं, किन्तु एक ही पदार्थ में कर्ता करण का भेद किया गया है और जैसे हमारा ज्ञान प्रत्यक्ष है तो अनुमान से हम जानते हैं कि सबके लिए सबका ज्ञान उनको प्रत्यक्ष हो रहा है। जैसे कोई चीज मीठी लगती है ना, तो दूसरे के बारे में भी ख्याल आता है कि यह ऐसे ही मीठी लगती होगी। कभी कोई त्यागी भोजन करता हो और वह भूल जाये कि यह चीज इसके साथ न खाना चाहिए, इसके साथ खाना चाहिए तो श्रावक झट बता देते कि महाराज इसको इसके साथ मिलाकर खावो। उनके चित्त में ऐसा पड़ा हुआ है कि इसके खाने से हमें मीठा लगता है ना, तो इन्हें भी मीठा लगेगा। तो सभी बातों का जैसे अपने आपमें स्पष्ट है ज्ञान, तो समझें कि दूसरे में भी दूसरे का ज्ञान दूसरे के लिए स्पष्ट रहा करता है।

ज्ञान की अनिवारित स्वसंवेद्यता तथा सम्यक्त होने पर ज्ञानमात्र में अहंप्रत्यय का अनुभव—जब अहंकार छा जाता है तब इस जीव को ऐसा लगता है कि जानदार तो बस हम ही हैं, समझदार तो बस हम ही हैं, और सत्ता वाले तो हम ही हैं, बाकी में जान नहीं, ये सब होंगे ऐसे ही अद्व सद्व। मानो सबके दो आंखें हैं सारी दुनिया में, जिनमें डेढ़ आँखें तो हमारे पास हैं बाकी बच्ची आधी आँख सारी दुनिया के पास है, इस प्रकार का अहंकार करते हैं। अहंकार की मुद्रा ही ऐसी है। इसी प्रकार जब अहंकार छाया रहता है तो वहाँ प्रभुता के दर्शन नहीं होते। जो ज्ञानी विशेष हैं वे तो बालकों की तरह सरल होते हैं। बालकों में घमंड कम पाया जाता। बालकों में सरलता पायी जाती है। उनको क्रोध क्षणिक रहता है, उनमें मायाचार नहीं रहता। कुछ लोभ की भी कमी रहती। कोई चीज पास में हुई झट किसी को दे दिया। देखिये यह कोई खास बात नहीं कह रहे, एक अंदाजा कह रहे। कहीं ऐसा नहीं है कि बालक तो मंद कषाय वाले हो और जवान तेज कषाय वाले। पर एक प्रवृत्ति के रूप से उदाहरण दे रहे। देख लो—बालक लोग आपस में खेलते रहते हैं। उनमें परस्पर

में मेल है। क्या आप बता सकते हैं कि उनका खेल बन्द कब होता? अरे उनका खेल तभी बन्द होगा जब कि उनमें लड़ाई हो जाये। पर वह लड़ाई भी कैसी कि घर तक गये, कुछ पानी पीकर आये कि फिर एकमेक होकर खेलने लगे। तो वे लड़के लोग प्रायः कोई बात मन में नहीं धरते। बालक लोग प्रकृत्या ही सरल होते हैं। तभी तो मुनिजनों को बालक सदृश कहा। विकार प्रवृत्ति के प्रसंग में ये बालक सदृश होते हैं। तो जैसे हम समझते हैं अपने आपके लिए वैसा ही सबके लिए समझें, सबका आदर करें। अहंकार इस जीवन को बिल्कुल बरबाद करने वाली बात है, और देखो मिथ्यात्व का सम्बन्ध विशेष अहंकार के रूप में बताते हैं। जहाँ अहंकार है वहाँ निर्माहता कहाँ? गर्व में स्वरूप की सुध कहाँ? क्रोध में तो थोड़ी याद भी रहती है। लोभ में भी थोड़ी याद भी रहती है। प्रयोग से समझ लो, अनुभव से समझ लो। जब यह बुद्धि रहती है कि ये सब तुच्छ हैं और मैं इनमें खास हूँ तो उस समय उसे आत्मा की सुध है क्या? अरे जैसे हम वें से सब। हम में भी ज्ञान, सबमें भी ज्ञान। हमारे स्वरूप में निरपराधता, सबके स्वरूप में निरपराधता। तो जैसे मेरे को ज्ञान प्रत्यक्ष है ऐसे ही संसार के सभी जीवों को ज्ञान उनके लिए प्रत्यक्ष है। तो यह ही प्रत्यक्षपना परोक्ष की कल्पना को दूर कर देता है। कोई भी ज्ञान परोक्ष नहीं होता अपने आपके सम्वेदन के लिए। प्रत्यक्ष और परोक्ष के जो भेद हैं ज्ञान में ये बाह्य अर्थ की अपेक्षा के भेद हैं, स्वयं की अपेक्षा से ये भेद नहीं हैं। जो जितना है वह उतना प्रत्यक्ष करता है अपने को। इस विषय में दार्शनिक शास्त्र में विशेष विवरण चलता है। हाँ पहिला दोष तो यह आया कि प्रत्यक्ष से ही विरुद्ध है। जो लोग कहते हैं कि करण ज्ञान परोक्ष होता है, जिस ज्ञान से हम जानते वहाँ वस्तु तो प्रत्यक्ष है, और यह ज्ञान हमें नहीं मालूम। यह प्रत्यक्ष नहीं, इसकी खबर नहीं सो बात नहीं। वहाँ ज्ञान की पहले खबर है तब पदार्थ को हमने जान पाया। कोई आदमी दिन भर काम करता है और ऊपर सिर भी न उठाये तो क्या उसे ज्ञान नहीं है कि सूर्य है तब यह उजेला है। सबको अपना अपना ज्ञान प्रत्यक्ष होता है।

ज्ञान को स्वयं में अत्यन्त परोक्ष मानने पर प्रमाताओं का अनियम—ज्ञान की स्वयं में परोक्षता के एकान्त में दूसरा दोष देखो। यदि ऐसा माना जाये कि जिस ज्ञान के द्वारा पदार्थ को जानते हैं तो पदार्थ तो है प्रत्यक्ष स्पष्ट और वह ज्ञान है परोक्ष, जिस ज्ञान के द्वारा हम जानते हैं। परोक्ष मायने क्या? जिसकी समझ नहीं, स्पष्ट समझ नहीं तो मेरा ज्ञान मेरे लिए परोक्ष है तो अब उसका इससे कोई सम्बंध तो न रहा। अब यह परोक्ष ज्ञान अगर इस मन्दिर की चीजों को जान लेता तो दुनिया भर की, बम्बई, कलकत्ता वगैरा में रहने वाले और लोग इस ही ज्ञान से क्यों नहीं जान जाते? जैसे वह ज्ञान हमारे लिए दूर पड़ा वैसे ही सबके लिए दूर है। अगर परोक्ष यह सब बातें प्रत्यक्ष बने तो इसी परोक्ष ज्ञान से सबको ये बातें प्रत्यक्ष हो जानी चाहिएँ। देखो प्रारम्भ से सुनो—जब हम पदार्थ को जानते हैं तो इतनी मुद्रा बनती है। मैं ज्ञान के द्वारा अमुक चीज को जान रहा हूँ, ये चार बातें हुईं। तो देखो “मैं” यह भी हमारे ज्ञान में है, “ज्ञान के द्वारा” यह भी हमारे ज्ञान में है और चीज को जानता वह भी हमारे ज्ञान में है, और जो जानना हो रहा वह भी समझ में है। चारों चीजें समझ में रहती हैं। मगर कोई लोग कहते हैं कि पदार्थ ही समझ में रहता, और तीन बातें समझ में नहीं रहतीं, कोई दो बातें समझ में नहीं। तो मोटी बात यह जान लें कि ज्ञान एक ऐसा प्रकाशक तत्त्व है कि खुद

अगर प्रकाशमय नहीं है तो पदार्थ भी प्रकाश में नहीं आता । जैसे दीपक अन्य पदार्थ को तो प्रकाशित करे और खुद प्रकाशमय न हो, ऐसा कभी हो सकता क्या? अगर ऐसा हो जाये तो कोई दीपक को उठाने के लिए जाये तो उसे दूसरा दीपक ले जाना पड़े, और दूसरे दीपक को उठाने जाये तो तीसरा दीपक ले जाना पड़ा । यों तो फिर दीपकों की संख्या की कोई हद न रहेगी । अनेक दीपक उठाने जाना पड़ेंगे । यों दीपकों की फैक्टरी बनाये जाने में सारा जीवन लग जायेगा और पदार्थ को जान न पावेंगे । ऐसे ही हम जिस ज्ञान के द्वारा जानते हैं वह ज्ञान अगर जानने में नहीं है और उस ज्ञान को जानने के लिए हमको दूसरा ज्ञान बनाना पड़ेगा और दूसरे ज्ञान को जानने के लिए तीसरा ज्ञान बनाना पड़ेगा । तीसरे ज्ञान को जानने के लिए चौथा ज्ञान बनावें । अगर यही रोजिगार करते रहे तो फिर सामने पड़ी चीज का ज्ञान तो कर ही न पायेंगे । तो यहाँ यह निश्चित है कि ज्ञान स्वयं प्रत्यक्ष है और ऐसे ही स्पष्ट ज्ञान के द्वारा हम पदार्थ को जानते हैं । देखो एक पद्धति है—जब आखें खोलकर पदार्थ को जान रहे हैं तो हमें उस ज्ञान के जानने की मजबूती नहीं है । जरा आखें बन्द करके जब विचारते हैं तो हमारा ज्ञान हमको बहुत स्पष्ट नजर आता । जिस ज्ञान के द्वारा वैसा हम जाना करते हैं । तो ज्ञान का स्वरूप बता रहे कि यह चकचकायमान है, स्वयं प्रकाशमान है, स्वयं एक जाननरूप है ज्ञान । उसे कह दिया परोक्ष । कैसा विचित्र यह दर्शनिक है?

आत्मा की ज्ञानमयता होने के कारण ज्ञान होने की सहज वृत्ति—एक पुरुष किसी आचार्य के पास गया और कहा महाराज मेरे को ज्ञान नहीं है, मेरे को ज्ञान दीजिए । मेरे में ज्ञान नहीं है मेरे को ज्ञान दीजिये । तो उसने कहा कि तुम चले जावो अमुक नदी के अमुक घाट पर, वहाँ एक मगरमच्छ रहता है वह तुम्हें ज्ञान देगा । तो गया वह पुरुष मगर के पास, बोला—मेरे को ज्ञान नहीं है मुझे ज्ञान दीजिए, मेरे में ज्ञान नहीं है मेरे को ज्ञान दीजिये तो वह मगरमच्छ बोला—अच्छा भाई ठहरो हम तुम्हें ज्ञान देंगे । देखो—तुम्हारे पास लोटा डोर है, जावो पास के उस कुवें से एक लोटा पानी खींच लावो, पहले हम अपनी प्यास बुझा लें, बाद में तुम्हें ज्ञान देंगे । तो वह पुरुष बोला—अरे मुझे तो गुरु महाराज ने भेजा, तो वह भी बेवकूफ मालूम होते और तुम्हें ज्ञानी बताया तो तुम भी बेवकूफ मालूम होते । अरे तुम स्वयं पानी में डूबे हुए हो, फिर भी प्यास बुझाने के लिए एक लोटा पानी की माँग कर रहे हो । तो उस मगरमच्छ ने कहा कि भाई यहीं उतर तुम्हारे लिए भी है । तुम स्वयं ज्ञान से लबालब भरे हुए हो, फिर भी कहते हो कि मेरे को ज्ञान नहीं है, मुझे ज्ञान दे दो । अरे यह आत्मा ज्ञान से लबालब भरा हुआ है । ज्ञान सिवाय आत्मा का स्वरूप ही क्या, सो तो बताओं? जैसे बाह्यपदार्थ को हम देखते ना कि यह-यह चौकी रूप वाली है, कठोर है, मोटी है, पिंडरूप है । ऐसे आत्मा में रूप, रस आदिक तो हैं नहीं? यह आत्मा कैसा विलक्षण पदार्थ है कि जिसकी कुछ उपमा नहीं दी जा सकती । ज्ञानमय पदार्थ, ज्ञानमात्र, ज्ञानस्वरूप, ज्ञानरूप आत्मा । वह सत् है, इसलिए प्रदेशात्मक है । परमार्थ सत् है, उत्पादव्ययग्रौव्य वाला है । पर है वह ज्ञानस्वरूप आत्मा । तो ऐसा ज्ञानस्वरूप आत्मा है । जिस ज्ञान के द्वारा हम खुद के द्वारा जानते हैं, उस ज्ञान का स्पष्ट दर्शन नहीं हो पाता क्या? यह ज्ञायक हेतु है जो हम पदार्थों को जानते हैं जिस ज्ञान के द्वारा यह कहलाता है ज्ञायक । दो तरह के कारण होते हैं—नायक और कारक । कारक तो वह कहलाया कि जो कारण पड़ता है, निमित्त पड़ता है और ज्ञायक वह कहलाता है जो ज्ञान कराता

है। जैसे भगवान का केवलज्ञान, ज्ञायकहेतु है, कारकहेतु नहीं। जो यह अर्थ लगाते कि भगवान ने जाना सो होगा तो वह कारक हेतु नहीं। वह तो जो है सो जान लिया गया। वह ज्ञायक हेतु है, और जो ज्ञायक होता है वह खुद अगर अज्ञात हो तो ज्ञायक नहीं बन सकता। ज्ञायक तब ही ज्ञायक है जब कि खुद ज्ञात है। अज्ञात होकर कोई ज्ञायक नहीं बनता। तो हम जिस ज्ञान के द्वारा जानें वह ज्ञान ज्ञायक बना मायने ज्ञान कराने वाला बना। अब उस ज्ञान का ज्ञान न हो और ज्ञायक बन जाये, ऐसा नहीं हो सकता। जैसे प्रकाशक पदार्थ वह बन सकता है जो खुद प्रकाशमय हो। जो खुद प्रकाशमय न हो वह दूसरे को प्रकाशित कर दे। ऐसा कभी होता नहीं। इसी तरह ज्ञान खुद में ही ज्ञान द्वारा ज्ञान में आ न रहा हो, आ ही नहीं सकता हो, ऐसा परोक्ष हो और उसके द्वारा विषयभूत पदार्थ ज्ञान में आये ऐसा नहीं हो सकता है। इस कारण यह ही निर्णय रखना चाहिए कि ज्ञान अन्य ज्ञान के द्वारा नहीं जाना जाता, किन्तु ज्ञान स्वयं अपने आपको जानता हुआ पदार्थ को जाना करता है।

स्वयं के प्रसंग में ज्ञाता की भाँति ज्ञान ज्ञेय व ज्ञसि की भी प्रत्यक्षरूपता—ज्ञान की पद्धति के सम्बन्ध में यहाँ विचार चल रहा है। सभी लोगों को ज्ञान करते समय ऐसी मुद्रा बनती है कि मैं ज्ञान से अमुक पदार्थ को जान रहा हूँ। इसमें चार बातें आर्यों। ‘‘मैं’’ कर्ता, ‘‘ज्ञान के द्वारा’’ करण, ‘‘अमुक पदार्थ को’’ कर्म और ‘‘जान रहा हूँ’’ यह है क्रिया। यों कर्ता, कर्म, करण और क्रिया—इन चार में से कुछ लोग तो यह कहते हैं कि पदार्थ तो प्रत्यक्ष हो जाता है, परन्तु कर्ता और करण प्रत्यक्ष नहीं होते। क्रिया कहो या फल कहो वह और अर्थ ये दो ही स्पष्ट होते हैं। तो किन्हीं का कहना है कि करण और क्रिया याने फल ज्ञान ये दो स्पष्ट नहीं होते, केवल कर्ता और कर्म ही स्पष्ट होते हैं। परंतु जैन सिद्धान्त यह बतला रहा है कि चारों हीं स्पष्ट होते हैं—कोई पुरुष जान रहा है किसी पदार्थ को, मानो खम्भे को जान रहा है। मैं जान रहा हूँ तो इस मैं का भी बोध है कि नहीं? चाहे किसी ढंग से हो, अगर बोध न हो तो फिर इस ‘‘मैं’’ के पीछे लड़ाई क्यों होती? इस ‘‘मैं’’ के पीछे तो लोग विवाद करने लगते। तो मालूम होता है कि उसे मैं के बारे में बोध है। कैसा ही बोध सही। कोई जान रहा खम्भा। वहाँ कोई कहे कि नहीं है खम्भा। तो जानने वाले लोग ही विवाद करते हैं कि कैसे नहीं है खम्भा। खम्भा ही तो जाना जा रहा। तो जिस पदार्थ को जाना वह भी प्रत्यक्ष हो गया और जिस ज्ञान के द्वारा जाना वह भी प्रत्यक्ष है। और देखो जानना भी स्पष्ट जाना जा रहा है। कोई कहे कि तुम्हारा ज्ञान झूठा है तो वहाँ झट लड़ाई हो जाती है कि कैसे हमारे ज्ञान को झूठा बताते? तो ज्ञान का भी प्रत्यक्ष है और फल का भी प्रत्यक्ष है। जो यह माने कि करणज्ञान इस कारण प्रत्यक्ष नहीं है कि वह कर्मरूप से प्रत्यक्ष नहीं। ऐसा मानने वाले यह बतायें कि कर्ता आत्मा फिर कैसे प्रत्यक्ष होगा? क्योंकि आत्मा कर्मरूप से तो प्रत्यक्ष होता नहीं। यदि आत्मा को कर्ता रूप से और कर्म रूप से दोनों तरह से प्रतिभास होना, प्रत्यक्ष होना मानोगे तो वहाँ भी फिर एक करण ज्ञान चाहिए, फिर और कर्ता चाहिए। इस तरह से अनवस्था यहाँ भी आती है। तो सीधी बात मान लो कि मैं जानता हूँ, ज्ञान के द्वारा जानता हूँ, अमुक पदार्थ को जानता हूँ। जानना हो रहा है, ये चारों बातें स्पष्ट रहा करती हैं। वहाँ ऐसा मत कहो कि केवल आत्मा प्रत्यक्ष है और अर्थ प्रत्यक्ष है। करण ज्ञान व फल ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है। हाँ इतनी बात तो अवश्य है कि ज्ञान तो करणरूप से

प्रत्यक्ष है, आत्मा कर्ता रूप से प्रत्यक्ष है और पदार्थ कर्मरूप से प्रत्यक्ष है और फल क्रियरूप से प्रत्यक्ष है। स्पष्ट चारों हैं। कहीं करणरूप से प्रत्यक्ष होने के कारण उसे प्रत्यक्ष नहीं मानते तो आत्मा भी प्रत्यक्ष नहीं रह सकता। क्योंकि वह भी कर्तारूप से प्रत्यक्ष है, कर्मरूप से प्रत्यक्ष नहीं। यह बात तो चल रही है भिन्न पदार्थ के बोध के विषय में, क्योंकि दार्शनिक विधि से स्व का और पर का निर्णय होता है। पर का यह आत्मा ज्ञान नहीं करता, स्व का करता है, यह बात तो एक निश्चयदृष्टि से है। मगर क्या यह सर्वथा झूठ है कि बाहरी पदार्थों का आत्मा को ज्ञान नहीं होता? वह परमार्थ और व्यवहार का अन्तर है। जानने में तो सब आयेगा। चाहे जिस विधि से जानने में आया हो, मगर आयेगा प्रत्यक्ष, ऐसा सबने जाना। तो दार्शनिक विधि से इस ही तत्त्व का निर्णय बना रहे, मैं भी स्पष्ट, ज्ञान भी स्पष्ट, पदार्थ भी स्पष्ट और क्रिया भी स्पष्ट।

स्वयं के प्रसंग में फलज्ञान की भाँति ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय की भी प्रत्यक्षता—अब मीमांसकों में जो एक दूसरा भेद है प्रभाकर। वे कहते हैं कि फल स्पष्ट है, पर आत्मा स्पष्ट नहीं होता। मैं जानता हूँ, इसमें मैं का भी बोध नहीं हो पाता। ज्ञान के द्वारा जानता हूँ, उसका भी बोध नहीं होता। बस, पदार्थ जाना, जा रहा है और ज्ञान समझ में आ रहा है। देखो जितने भी दार्शनिक होते हैं वे सब अपनी बुद्धि तो रखते ही हैं। कभी-कभी ऐसा अपने को भी समझ होती है कि जो दार्शनिक कह रहा वह ठीक ही तो कह रहा। प्रायः लोगों को दिखता है कि लोग सब कुछ जान रहे हैं पर उन्हें अपने आपकी कुछ खबर नहीं? और न ज्ञान की खबर और जानना बन रहा है इसको भो वे दृढ़ता से कहते और पदार्थ को भी दृढ़ता से कहते। ऐसा तो लोगों का समुदाय बहुत है। और देखो जब तक स्याद्वाद विधि पूर्ण समझ में न आये और अन्य दार्शनिकों की विधि समझ में न आये तो ऐसा ना समझ वाले लोगों को कभी-कभी दूसरे दार्शनिकों की बात भी प्रिय लगती है और अपने स्याद्वाद विरोध का डर लगा है तो अपने स्याद्वाद में उसे ढाल देते हैं; पर एक यह बड़ा गहन ज्ञान का विषय है। नयचक्र बड़ा गहन बन है। उसमें यों ही साधारण जनों का प्रवेश नहीं होता। निर्णय करो प्रमाण से पूरा, फिर तुम्हें जिसकी मुख्यता में कल्याण जांचे उसको दृष्टि में कर लो? परन्तु निर्णय ठीक रखो वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है, सामान्यविशेषात्मक है, उसमें से न द्रव्य झूठा, न पर्याय झूठा न सामान्य झूठा, न विशेष झूठा, जानो सबको। और जिससे स्वभावदर्शन की प्रेरणा मिले उसे मुख्य करें दूसरे को गौण करें, यह ही एक कल्याण की रीति है। तो यहाँ ज्ञान की बात चल रही है। ‘मैं जानता हूँ’ यह भी स्पष्ट है, ‘जानता हूँ’ यह भी स्पष्ट है, ‘अमुक को’ यह भी स्पष्ट है, ‘ज्ञान द्वारा’ यह भी स्पष्ट है। अगर कहो कि आत्मा का प्रत्यक्ष इस कारण नहीं होता कि इसका कर्मरूप से ज्ञान नहीं होता। मैं जानता हूँ, यह ही ऐसा सोचता है जीव। मैं जीव को जानता हूँ, ऐसा तो नहीं सोचता कि मैं को जानता हूँ। तो जब उसमें मैं न लगे, कर्मरूप से उसका ज्ञान नहीं होता, इसलिए वह प्रत्यक्ष नहीं तो अरे प्रभाकर भाई यह ही बात तो तुम्हारे में आयेगी, फल में बारे में भी को नहीं लगा रहे वह भी कर्मरूप से, नहीं जाना जाता तो उसे भी परोक्ष मान लो। अगर कहो कि उसका भी कर्मरूप से ज्ञान हो जायेगा तो फलज्ञान दूसरा हो गया। फिर उसका कर्मरूप से प्रत्यक्ष होगा तो फलज्ञान तीसरा होगा। यों अनवस्था दोष आयेगा। तो मैं कर्ता, ज्ञान करण, ज्ञेय कर्म व ज्ञानी फल—ये चारों ही स्पष्ट समझो। चारों को स्पष्ट माने बिना कहीं ठिकाना न पड़ेगा। तो सीधा आप जान ले, मैं जानता यह भी स्पष्ट

अर्थ को जानता हूँ, यह स्पष्ट व जान रहा हूँ यह भी स्पष्ट है। ये चारों बातें स्पष्ट होती हैं ज्ञान में। तो ज्ञेय में जैसे परोक्षता नहीं वैसे ही आत्मा का परोक्षपना भी नहीं और ज्ञान में भी परोक्षपना नहीं, फल में भी परोक्षपना नहीं है। कोरी हठ मत करो।

आत्मकृपालु होकर सहज परमात्मतत्त्व के उपासक बनो—भैया ! विवेक करो और देखो, अपने को यहाँ पड़ी क्या है? मनुष्य हुए हैं तो कर्तव्य यह है कि जिस प्रकार बने आत्महित कर ले। कषायें करने के लिए जीवन नहीं है यह। और जो अपने जीवन को कषायों में लगा देते हैं वे आत्महित नहीं पा सकते। कषाय तो धर्म के प्रसंग में भी मत करो। बल्कि अन्य कामों में कषाय हो जाये, उसके घर में, दूकान में और जगह अगर कषाय जग जाये तो उसके तो उद्धार की सम्भावना है, मगर धर्म के प्रसंग में, तत्त्वज्ञान में, और बातों में ऐसी कषाय जग जाये कि यह कुछ नहीं, यह विरोधी है, यह मेरा, वह फलाने का, वहाँ उद्धार पाना बहुत कठिन है। जैसे कहते हैं ना कि अन्य स्थानों में पाप करे तो वह धर्मस्थान में नष्ट हो जायेगा और अगर धर्मस्थान में पाप करे तो वह कहाँ नष्ट होगा? तो भाई अगर कुछ ज्ञान है, बोध है तो सबसे पहले इसका आदर करो कि मेरे में कषायें न जगे और फिर आत्मकृपालु होकर सोचो मुझे क्या करना? यहाँ कुटुम्ब बनाकर जाना क्या? उससे पूरा पड़ जायेगा क्या? या पक्षपार्टी बनाकर मर गए तो उससे पूरा पड़ जायेगा क्या? या कोई बहुत बड़ा यश कीर्ति नाम कमाकर चले गए तो उससे कुछ पूरा पड़ जायेगा क्या? अरे अपने आत्मा पर कुछ दृष्टि करो और धर्म के प्रसंग में, धर्म धारण के प्रकरण में इन सब बातों का परिहार कर दो। बस मैं हूँ और मेरी दृष्टि में मेरा स्वरूप है, और मेरी इस स्वरूपदृष्टि के सहायरूप में प्रभु का स्वरूप है, भक्ति है। भक्ति और ज्ञान इन दो के सिवाय और था चाहिए? अगर अपना उद्धार करना है तो दो बातें करो—भक्ति और उद्धार, क्योंकि ये कषायें न जाने कहाँ से कहाँ ले जाये, कहाँ पटक दें? अभी आप देखो—आपकी ही समाज में कुछ लोग ऐसे हो गए हैं कि जो बड़े पंडित भी माने जाते थे वे कषाय जग आने के कारण अपने जीवन को बरबाद कर गए। तो इन कषायों का अपने में अंकुर ही मत जगे। कम से कम धर्म के मामले में तो कषायें न जगे। और जगह की कुबात में तो धर्म के स्थान में आयेंगे तो उसका निपटारा हो जायेगा, ढंग बन जायेगा, किन्तु धर्मप्रसंग की कषाय का निपटारा कहाँ करोगे? इसलिए हठ न करके कषाय न करके मैं हूँ, मेरे को अपने आत्मा का उद्धार करना है। आत्मा का उद्धार स्वभावदृष्टि बिना नहीं हो सकता। स्वभावदर्शन के लिए हमारा जीवन है। उसमें ही हमको चलना है। एक मात्र यही दृष्टि रखें, देखो आपको आगम के प्रत्येक शब्द से स्वभावदर्शन की शिक्षा मिलेगी, अन्यथा वह आगम न कहलायगा। देखिये चार अनुयोग है—(१) प्रथमानुयोग, (२) करणानुयोग, (३) चरणानुयोग और (४) द्रव्यानुयोग। इन चारों अनुयोगों से आपको स्वभावदर्शन की, ब्रह्मदर्शन की शिक्षा मिलेगी। तो एक वास्तव में अगर रुचि है स्वभावदर्शन की तो सब जगह से शिक्षा ले लेगा और जिसे स्वभावदर्शन की रुचि नहीं है तो वह एक हठी हो जायेगा। भैया ! हठी न बनें और यह जानें कि इस विपत्ति से भरे संसार में हमारा जो यह जन्म मरण चल रहा है उस जीवन में अगर कुछ वर्ष ऐंठ गए, शान बगराई, ममत्व किया तो मरण तो होगा ही, फिर क्या किया जायेगा? उसका परिणाम बहुत भयंकर होगा। इससे इस १०-५ वर्ष के आराम में आसक्त न रहें। और आराम भी कुछ नहीं, कष्ट ही है जिसे आराम

मानते हैं। यहाँ तृप्ति न रह कर एक अलौकिक आत्मीय मौज में आवें और अपने स्वरूप को देखें, संतप्त हों जिससे कर्म भी कटें और जन्म मरण से छुटकारा भी हो।

ज्ञान की स्वसंवेदिता की संवेदना—ज्ञान क्या जानता है, कैसे जनता है, यह अपनी ही चर्चा है। ज्ञान है ज्ञानज्योतिस्वरूप, वह अपने में अपना काम करता रहता है। उसका काम है जानना। सो ज्ञान पर को विषयभूत बनाकर निज ज्ञेयाकार को जानता रहता है। इस तथ्य को यदि सीधा कहो कि ज्ञान पर को जानता है तो भी कुछ हर्ज नहीं, क्योंकि उसका अर्थ समझ लेना। यहाँ एक शंकाकार कह रहा है कि ज्ञान पर को जानता है, इसमें तो हमें कोई आपत्ति नहीं। जान ही रहे, हम मकान जानते, स्त्री-पुत्रादिक परिजन को जानते, सबको जान रहे हैं मगर हम ज्ञान को नहीं जान सकते। ऐसी बात तो थी मीमांसक की। अब थोड़ा और ढंग पर आये तो यह कहने आये कि ज्ञान को जाना तो जा सकता है, मगर ज्ञान के द्वारा जाना जा सकता है। जो ज्ञान वस्तु को जान रहा है वही ज्ञान अपने ज्ञान को भी जाना जाये, सो बात नहीं होती। अब यह प्रकरण रखा जा रहा है नैयायिक सिद्धान्त में। ज्ञान को अस्वसम्बेदी मानते हैं। होती तो है उसकी समझ, मगर शंकाकार को मदद दो तो सोचकर कुछ ऐसा लग रहा होगा कि हम जिस ज्ञान के द्वारा जिस पदार्थ को जानते हैं और जब हम जानने को चलते हैं कि इस पदार्थ को जान रहे हैं तो यह ज्ञान हमारा सही है या नहीं? जब यह ज्ञान उठता, है तो कहता है कि हाँ सही है। इसी आधार पर शंकाकार कह रहा है कि ज्ञान जाना जायेगा तो किसी दूसरे ज्ञान द्वारा जाना जायेगा। उसकी युक्ति है कि ज्ञान चाहे कितना ही सूक्ष्म हो, कितना ही कुशल हो और स्पष्ट हो, मगर ज्ञान अपने को यों नहीं जान सकता कि जैसे तलवार कितनी ही पैनी हो, मगर तलवार अपने आपको नहीं काट सकती। तो जैसे तलवार खुद को तलवार को नहीं काट सकती उसी तलवार को, ऐसे ही ज्ञान खुद-खुद को नहीं जान सकता, ऐसी एक आशंका नैयायिकों की ओर से आ रही है। अब इसके समाधान में चलें। तो जैसे उसने दृष्टांत दिया ऐसा ही दृष्टांत तो हम आप भी दे सकते हैं। सभी जानते हैं कि दीपक पर को प्रकाशित करता है तो वह स्वप्रकाशक होता हुआ ही पर का प्रकाश कर पाता है। जो स्वप्रकाशक न हो पदार्थ और पर को प्रकाश कर दे ऐसा उदाहरण ने मिलेगा। आप कहेंगे कि बैट्री तो है ऐसी। जब बैट्री जलती है तो वह बैट्री नहीं दिखती। वह खुद को जो प्रकाशित नहीं करती, पर बाहर के सब पदार्थ प्रकाशित हो जाते हैं तो आप यह बतलावें कि बैट्री कितनी कहलाती है? क्या पीछे जो कोई बिलस्त की लम्बी डंडी लगी है तब बैट्री कहलाती है? अरे वह बैट्री नहीं है। बैट्री तो वह है जो आगे का बल्ब है, जो कि स्वयं प्रकाश मान है। अगर वह ही प्रकाशमान न हो तो बाहरी पदार्थ प्रकाशित नहीं हो सकते। तो जैसे बैट्री स्व-प्रकाशक होते हुए पर-प्रकाशक है, ऐसे ही यह ज्ञान स्व-प्रकाशक होते हुए पर-प्रकाशक है। तो यह ज्ञान स्वयं चकचकायमान है, सर्वांग प्रकाशमान है। वह परपदार्थों का ज्ञान करता रहता है। तो ज्ञान स्वयं अपने आपको भी जानता है और पर को भी जानता है।

जितने रूप में ज्ञान है उसे संवेदन के लिये अन्य ज्ञान की अनावश्यकता—अब देखो जो एक थोड़ासा विचार किया था कि जब हम किसी ज्ञान को समझने के लिए चलते हैं कि मेरा ज्ञान सही है या नहीं तो इस दूसरा ज्ञान पैदा हो जाता है। तो इसमें आपको दो बातें समझनी पड़ेगी। एक तो यह कि जानने वाले ज्ञान के

विषय में अलग से उसे समझने की जिज्ञासा कब होती है जब कि उस ज्ञान का विषयभूत जो पदार्थ है उसमें शंका हो रही हो । जैसे पड़ी तो है सीप और जान रहे कि यह सीप है या चाँदी । जब वहाँ ही लटकपन चल रहा है तो वहाँ ही अपने ज्ञान का ज्ञान करने के लिए अन्य ज्ञान चलता है याने पूर्व ज्ञान के लटकपन को दूर करने के लिये ज्ञान बना । आप ठीक-ठीक समझते जाओ । ज्ञान में शंका होती है तो ज्ञान के विषयभूत अर्थ के बारे में निर्णय न होने पर शंका होती है, ऐसी स्थिति में अब यह ज्ञान प्रमेय बना और अन्य ज्ञान ज्ञायक बन गया । होती है ऐसी स्थिति, उसका अर्थ यह है, उस ही पदार्थ में होने वाले संशय का निवारण करने के लिए दूसरा ज्ञान बनाते हैं और इसी कारण वह पहिला ज्ञान संशय ज्ञान हुआ । वह ज्ञान बनता एक उस विषय का अचेत निवारण करने के लिये । अब अचेतन का पदार्थ का प्रतिनिधि बन गया वह और उसको समझने के लिए एक नया ज्ञान उत्पन्न होता है । विषय बदल गया, पर एक ही विषय को लेकर जो ज्ञान बनता है वह ज्ञान स्व का प्रकाशक भी है और पर का प्रकाशक भी है । अब देखना ज्ञान यदि स्व को न जाने और वह दूसरे ज्ञान के द्वारा जाना जाये, दूसरा ज्ञान तीसरे ज्ञान के द्वारा जाना जाये वह तीसरा ज्ञान किसी चौथे ज्ञान के द्वारा जाना जाये तो यह तो एक बड़ी विडम्बना की बात बन जायेगी । पर ऐसा कभी हो नहीं सकता । जो ज्ञान सुख को नहीं जानता वह दूसरे की भी नहीं जान सकता । जब कोई विषयभूत परपदार्थ जानने में आता है तो वहाँ लोग यहाँ दृष्टि नहीं देते हैं तो लोग ऐसा जानते हैं कि हम पदार्थ को तो जानते, मगर जिस ज्ञान के द्वारा जानते हैं उसको नहीं जानते । पर यह कभी हो नहीं सकता । जैसे दीपक के द्वारा परपदार्थ तो प्रकाशित हो जाये पर खुद प्रकाशित न हो, ऐसा कभी हो नहीं सकता । ऐसे ही वह आत्मा स्वयं प्रकाश स्वरूप है, ज्ञानस्वरूप शाश्वत रहता है । इसका अन्य स्वरूप ही क्या?

निजस्वरूप की बेसुधी में परेशानियों का भार—अपने स्वरूप की सुध खोकर ही हम पर की आशा लगाये फिरते हैं । जैसे जिसके घर में कहीं बहुत धन गड़ा है, पर उसका उसे पता नहीं है तो वह बड़ा दीन गरीब भिखारी कायर रहेगा । इसी प्रकार यह आत्मा अपने ही ज्ञानानन्द से सम्पन्न है पर उसकी सुध न होने से वह परपदार्थों का भिखारी बना फिर रहा है, उनसे अपने सुख की आनन्द की आशा करके भिखारी बना फिर रहा है । जैसे रेगिस्टान में कोई हिरण किसी सूखी नदी में अपनी प्यास बुझाने के लिए पानी की तलाश में इधर उधर खोजता फिर रहा था । दूर की चमकती हुई रेत उसे पानी जैसी मालूम पड़ी तो वह गर्दन उठाकर उसकी ओर दौड़ लगाता है । जब वहाँ पहुंचता है तो नीचे तो देखता नहीं है कि जहाँ देखा पानी का वहाँ नाम नहीं । वह तो मुँह उठाये दौड़ता रहता है कुछ और दूर दृष्टि डाली तो फिर दूर की चमकती हुई रेत पानी जैसी मालूम पड़ी, फिर वहाँ दौड़ लगाया । वहाँ जाकर देखा तो पानी का नाम नहीं । यों वह हिरण दौड़ दौड़कर अपनी प्यास की बेदना को और भी बढ़ा लेता है और अन्त में दौड़ लगा लगाकर मर जाता है । ठीक ऐसे ही यह संसारी प्राणी अपने सुखस्वरूप को भूलकर बाह्य पदार्थों से सुख की आशा करके उनके पीछे दौड़ लगा लगाकर हैरान हो जाता है, पर नम्र विवेकी बनकर जानना ही नहीं चाहता है कि यहाँ सुख का नाम नहीं, आखिर दौड़ लगा लगाकर अन्त में यह मरण को प्राप्त हो जाता है । तो अब कुछ इस दौड़ से हटना चाहिए और अपने आपके ज्ञानस्वरूप की ओर कुछ दृष्टिपात करना चाहिए ।

ज्ञान की स्वव्यवसायात्मकता का उपसंहार—यहाँ ज्ञानस्वरूप की बात चल रही है। आत्मा ज्ञानमय है, स्वयं ज्ञानस्वरूप है तो उस ज्ञान की कुछ सुध तो होनी चाहिए कि मैं किस प्रकार ज्ञानस्वरूप हूँ? मैं ज्ञानरूप हूँ—इसमें स्व और परप्रकाशकता का गुण पड़ा हुआ है। ज्ञान अपना भी प्रकाशक है और पर का भी प्रकाशक है। यहाँ स्व के मायने आत्मा नहीं माना कि ज्ञान आत्मा का प्रकाशक है और पर का प्रकाशक है। भेददृष्टि से निर्णय की बात चल रही है। स्व के मायने हैं ज्ञान स्वयं खुद, क्योंकि यह स्व-परप्रकाशकता मिथ्यादृष्टि के भी है, सम्यग्दृष्टि के भी है। ज्ञान में ही स्वयं ऐसी कला है कि ज्ञान स्वयं का भी ज्ञान कर रहा है, अच्छा है, ठीक है, दृढ़ता है। और पर के बारे में भी निर्णय कर रहा है। यहाँ अगर आत्मा को जाना तो आत्मा कहलायेगा अर्थ और ज्ञान कहलायेगा स्व। जैसे किसी परपदार्थ को जानते समय पर तो हुआ पदार्थ और स्व हुआ ज्ञान। इसी प्रकार यह ज्ञान जब आत्मा को जाने तो अर्थ तो हुआ आत्मा और स्व हुआ ज्ञान, अर्थात् ज्ञान में ऐसी स्वपरप्रकाशकता अर्थात् स्वार्थव्यवसायीपन की कला है। यद्यपि ज्ञान आत्मा से जुदा नहीं है और इसी कारण ज्ञान ने जाना कहो या आत्मा ने जाना कहो, फिर भी कर्ता कर्म क्रिया का भेद करके निर्णय कीजिए, वहाँ यह बात कही जा रही है कि ज्ञान जिसके अभिमुख हो वह तो है प्रकाश्य और वह ज्ञान कहलाता है प्रकाशक। तो उस ज्ञान के सम्बन्ध में निर्णय बना कि यह ज्ञान स्वयं नहीं जाना जाता, यह अयुक्त कथन है। एक बात और ध्यान देने की है कि ज्ञान को स्वपरप्रकाशक कहा है, वहाँ पर का अर्थ यह लगाना चाहिए कि ज्ञान अर्थ का प्रकाशक है तथा स्व का अर्थ करना खुद का तो परपदार्थ जाना तो अर्थ का प्रकाशक रहा, आत्मा जाना तो अर्थ का प्रकाशक रहा। सो ज्ञान में जब स्व का अर्थ किया तो ज्ञान के अतिरिक्त जो कुछ भी जानने में आया वह पर कहलाता है। ऐसा स्वपरव्यवसायात्मक ज्ञान स्वयं अपने ज्ञान से नहीं जाना जा रहा, किन्तु वह अन्य ज्ञान से जाना जाता है, ऐसा कहने वाले नैयायिकों के मंतव्य की बात कुछ पहले बतायी गई थी। यहाँ इतनी बात समझना कि अगर ज्ञान खुद को न जाने और ज्ञान दूसरे ज्ञान के द्वारा जाना जाये तो दूसरे ज्ञान को जानने के लिए तीसरा ज्ञान चाहिए। इस तरह बढ़ते जायें कभी अवस्थान ही न होगा। तो लो पहले इसी काम से न निपट पाये फिर पदार्थ जानना तो दूर रहा, क्योंकि कोई भी ज्ञान अज्ञात रहे तो वह अपने विषय को नहीं जान सकता। देखो हेतु दो प्रकार के होते हैं ज्ञायक और कारक। ज्ञायक मायने ज्ञान करने वाला और कारक मायने उपादान और निमित्त। तो जो ज्ञायक हेतु होता है उसमें यह निश्चय है कि ज्ञायक अज्ञात होकर ज्ञान करने वाला नहीं होता।

ज्ञान को प्रकृतिर्धर्म मानने वालों की ओर से उठे हुए ज्ञान को अचेतन करार कर देने के प्रस्ताव पर विचार—मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्, इस सूत्र में अनेक बातों का स्पष्टीकरण किया गया है। अब आखिरी एक बात आ रही है कि ये सांख्यानुयायी कहते हैं कि ज्ञान तो अचेतन का धर्म है। ज्ञान अचेतन है, प्रकृति का परिणाम है, वह चेतन नहीं है उसका आत्मा से मतलब नहीं है। आत्मा तो सिर्फ चैतन्यस्वरूप है, पर, उसमें ज्ञान नहीं है। ज्ञान में और चेतन में अन्तर है। ज्ञान तो एक विकल्प और समझ में आने वाली बात है, और चेतन—एक चित् गया, चेत हो गया, बस इतनी ही उसमें बात है। ज्ञान तो चेतन का धर्म नहीं, किन्तु अचेतन—प्रवृत्ति का धर्म है। इस प्रकार की समस्या सांख्य सिद्धान्त की ओर से आ रही है, और वे कहते हैं

कि देखो जो-जो प्रमेय होते हैं वे-वे सब अचेतन होते हैं। जो-जो बात जानने में आती है वह-वह सब अचेतन होती है। जैसे पृथ्वी, घड़ा, ये सब जानने में आ रहे तो ये अचेतन हैं। तो जानने में ज्ञान भी आ रहा है, इस सम्बंध में बहुत खुलासा नैयायिकों के सिद्धान्त की चर्चा करते हुए कह दिया है कि ज्ञान जाना जाता है, ज्ञान परोक्ष नहीं होता, ज्ञात होता है तब यह ज्ञान पर को जानता है। तो ज्ञान जानने में आयी हुई चीज है ना? ज्ञेय है ना? तो जो-जो ज्ञेय होता और जो प्रमेय होता वह सब अचेतन है। तो जैसे घड़ा, कपड़ा आदिक ज्ञेय बन रहे, जानने में आ रहे तो ये अचेतन हैं। इसी कार यह ज्ञान भी जानने में आ रहा है इसलिए। यह अचेतन है और अचेतन प्रकृति का धर्म है। इस प्रकार सांख्य-सिद्धान्तानुयायी ज्ञान को अचेतन जाहिर करने का प्रस्ताव, रख रहे हैं। हाँ बोलो इसका समर्थन करने वाला कोई है क्या? सब लोग इस दिल को टटोलने लगेंगे कि हम किस हृदय से समर्थन करें? प्रतीति में तो आ रहा कि यह ज्ञान चेतने वाला है। सो यह चेतन का स्वरूप है। समर्थन करने वाला कोई नहीं उठ रहा, तो निर्णय होता है कि यह कथन यह प्रस्ताव प्रतीति के विरुद्ध है, प्रतीति का अपलाप करने वाला है। सभी जीवों का चेतनात्मक रूप से इस ज्ञान का ज्ञान होता है। जैसे आत्मा का चैतन्यात्मक रूप से बोध होता ऐसे ही ज्ञान का भी चेतनात्मक रूप से बोध होता है। यह प्रधान का परिणाम नहीं है। प्रधान मायने प्रकृति। प्रकृति का क्या रूप है? कर्म। यह कर्म का परिणाम नहीं है ज्ञान, प्रधान का परिणाम नहीं है ज्ञान।

**प्रकृतिविस्तार का दिग्दर्शन—**देखो प्रकृति का नाम प्रधान क्यों रखा कि यह ही तो प्रधान है। संसार का जितना ठाठबाट चल रहा है, ये जीव किलबिला रहे, जन्ममरण करते हैं, सुख दुःख पाते हैं, जो-जो कुछ भी विडम्बना बन रही हैं इनमें प्रधान का ही तो खेल है। प्रधान प्रकृति का खेल रूप इस संसार की इस सृष्टि में प्रधान कौन है? प्रकृति। अब रह गई एक पुरुष की बात तो उसकी सृष्टि ऐसी विलक्षण है कि वह दुनिया को दिखने में नहीं आती, अपने आप में प्रतिमास मात्र है। वह लोगों के लिए प्रधान बन ही नहीं, सकता, इसीलिए सांख्यों ने प्रकृति का नाम प्रधान रखा और प्रकृति नाम क्यों पड़ा? तो कृति मायने कार्य प्र मायने प्रकृष्ट। बहुत प्रकृष्ट जो कृति हो या प्रकृष्ट कृति जिससे बनती हो उसे कहते हैं प्रकृति। लोग कह तो देते हैं कि प्रकृति मायने कुदरत। अब, कुदरत क्या? कहाँ देखें कुदरत? कहीं मिल जायेगा कुदरत? कहते हैं कि कुदरत का सब खेल है। अरे वह कुदरत क्या है? नट है या क्या चीज है कुदरत का खेल? कहाँ देखें वह कुदरत क्या है? यह ही कर्म प्रकृति। कर्मप्रकृति ऐसा समर्थ निमित्त है कि जिसका निमित्त पाकर संसार में यह सब नाच हो रहा है। पर अपने को इससे क्या मतलब? नाच देखने से हमारा कोई प्रयोजन बनेगा क्या? और नाच का जो निमित्त है, उस प्रकृति की पूजा करने से कोई प्रयोजन बनेगा क्या? और तो जाने दो सम्यक्क का निमित्त है ७ प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम और कोई उपशम क्षय, क्षयोपशम की ही चर्चा बनाये, वहाँ ही दृष्टि गड़ाये तो उस समय में सम्यक्क हो जायेगा क्या? निमित्त तो अवश्य है, मगर सम्यक्क एक ऐसी निर्विकल्प दशा है कि उस समय में आश्रयभूत बाह्य पदार्थ नहीं होता। निमित्त नहीं होता यह बात नहीं, निमित्त तो होगा ही। जितने भी विषय कार्य होते हैं—विषय के मायने विभावपरिणमन व स्वभाव की आदि मायने जो काम पहले हो रहा हो उससे विपरीत कोई बात आये तो वह किसी निमित्त पूर्वक होता है अन्यथा अनादि से क्यों नहीं

ऐसा हो रहा? तो भले ही निमित्त है, लेकिन निमित्त का आश्रय करने के समय में सम्यक्त और स्वरूपमग्नता जैसी दशा नहीं होती है, ऐसी ही यह विधि है। स्वभावविकास का विधान ही ऐसा है कि एक स्व का आश्रय करने की धुन रखे तब जैसा जिस तरह होना है वह होता चलेगा। तो यह सारा संसार प्रधान का परिणाम है। जब कभी आप शिमला, मंसूरी या कश्मीर वैगैरह में दृश्य देखते हैं तो बड़े सुहावने लगते, पहाड़, पेड़, झरना और विभिन्न प्रकार के वृक्ष और अनेक प्रकार के पक्षी, जब ये सब दृष्टि में आते हैं तो वहाँ झट कह उठते हैं कि वाह कितना सुन्दर प्राकृतिक दृश्य है तो वह प्रकृति के मायने क्या? प्रकृति का अर्थ है कर्म की प्रकृतियों का निमित्त पाकर बनावट होना। तो ये सब पेड़ बने हैं ये भी कर्म प्रवृत्तियों के निमित्त से बने हैं। जलप्रवाह चल रहा, पक्षीजन कलरव कर रहे, जो-जो कुछ भी हो रहा वह सब प्रकृति का खेल है। तो प्रकृति है, मगर उसे सुन्दर न कहो। जगत में कोई भी चीज हमारे लिए रम्य नहीं है। उसे अच्छा कह लो या सुन्दर ही कह लो, कुछ हर्ज नहीं। जगत में जो भी बाह्य चीजें हैं वे सुन्दर हैं। सुन्दर के मायने सु उन्द अर, सु मायने अच्छी तरह से, उन्द क्लेदने धातु है, जिसका अर्थ है तड़फाना और अर प्रत्यय लग गया, तो उसका अर्थ हो गया कि जो अच्छी तरह से तड़फा-तड़फा कर बरबाद करे उसका नाम है सुन्दर, यह सुन्दर का अर्थ बतलाया। जिस सुन्दर पर लोग लटट हैं उसकी पोल बतायी हैं। क्या करें, रुढ़ि हो गई तो अच्छे काम के लिए भी लोग सुन्दर शब्द का प्रयोग करने लगे। जैसे सत्यं शिवं सुन्दरम्—इस तरह से सुन्दर शब्द का प्रयोग यदि शब्दानुरूप बोलना है तो न करना चाहिए। क्योंकि सुन्दर शब्द का अर्थ है जो भली प्रकार तड़फा कर नष्ट कर दे। हाँ वह प्राकृतिक दृश्य बड़ा सुन्दर लग रहा तो देखो सुन्दर है वह तब ही तो कलेवा करने की भी सुध नहीं रहती। तो देखिये वह प्राकृतिक दृश्य बरबाद ही तो कर रहा। तो जितना जो कुछ यह ठाठबाट है, दृश्यमान जगत है वह सब प्रधान का परिणाम है।

ज्ञान की चेतकता और स्वार्थव्यवसायात्मकता—सांख्यसिद्धान्तानुयायी कहते हैं कि जो बातें समझ में आयी वह सब प्रधान का परिणाम है। ज्ञान भी ज्ञान में आता है तो वह भी प्रकृति का परिणाम है। अचेतन है, आत्मा की चीज नहीं। ऐसा कहने वाले सांख्यों की न तो यह बात प्रतीति से सिद्ध होती है और न युक्ति से सिद्ध हो सकेगी, तब क्या मानना कि ज्ञान आत्मा का धर्म है, चेतन है और उस ज्ञान के ये सम्यक् विशेष हैं। ज्ञान जितना होता है वह स्वार्थव्यवसायात्मक होता है। देखो ज्ञान का स्वरूप है यह दार्शनिक ढंग से जो सर्वत्र युक्ति- संगत बैठेगा। जो स्वार्थ व्यवसायात्मक है उसे ज्ञान कहते हैं। अर्थ क्या? स्व मायने खुद का अर्थ मायने पदार्थ का, व्यवसाय मायने निश्चय कराने वाला, जो, खुद का और पदार्थ का निश्चय कराने वाला है उसको ज्ञान कहते हैं। जब यह, ज्ञान इन घटपट आदिक को जान रहा हैं तब उस समय स्व क्या है? यह ही जानने वाला ज्ञान और अर्थ क्या है? घट पट आदिक परपदार्थ और जब यह ज्ञान आत्मा को जान रहा है तो स्व क्या कहलाया? ज्ञान, जानने वाला ज्ञान। और अर्थ क्या कहलाया? आत्मा। यह ज्ञान के स्वरूप की बात कही जा रही है। जो स्वरूप अज्ञानी में भी है, ज्ञानी में भी है। तो ज्ञान का एक ढंग है कि ज्ञान जानता है तो इस विधि से ही जानता है कि ज्ञान का भी ज्ञान करता रहता है। आत्मा का हो चाहे, न हो और ज्ञान का भी ज्ञान सही जीव को हो या न हो, मगर ज्ञान है, जानना हो रहा है। जानना, इतना अगर खुद में बोध

न हो तो कुछ अनुभव ही न बनेगा । एकेन्द्रिय को भी बोध है, केवल अपने ज्ञान से जो कुछ भी समझ रहती है, जितना ज्ञान है, जितना अवग्रह है, जिस पदार्थ को जानता है वह तो हुआ अर्थ और जिस ज्ञान के द्वारा जानता है वह हुआ स्व । यह ज्ञान का स्वरूप कहा जा रहा है । क्योंकि थोड़ी देर को विचारो कि यदि ज्ञान स्व का भी ज्ञान नहीं कर पाता, केवल अर्थ का ही ज्ञान कर पाता तो इसको कभी दुःख का अनुभव नहीं हो, सकता, क्योंकि दुःख आता है तो अनुभव किस विधि से आता? ज्ञानात्मक विधि से ही तो आता है । तो ज्ञान चल रहा सब जीवों के निगोद से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक सब जीवों में । जो ज्ञान चल रहा, जहाँ जितनी योग्यता है चल रहा, वह इस विधि से ही चल रहा कि वह स्व को भी जानता और अर्थ को भी जानता, मगर विश्लेषण नहीं कर पाये यह बात अलग है । तो ऐसा यह ज्ञान का स्वरूप है जो स्व और अर्थ का निश्चय कराये । तो ऐसा यह चैतन्य है । आत्मा का ज्ञान है और साथ ही चूंकि सम्यक् का अधिकार है, सम्यग्ज्ञान का अधिकार है तो सम्यक् मति आदिक भेदों को लेना । इस ज्ञान से निगोद का ज्ञान न लें, एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय का ज्ञान न लें, पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टि सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि इसके ज्ञान की बात इस सूत्र में नहीं कह रहे हैं, क्योंकि यह अध्याय जो बना है तो इस आधार पर बना है—प्रमाणनयैरधिगमः । समस्त तत्त्वों का सम्यग्दर्शन आदिक का जो बोध होता है वह प्रमाण और नयों से होता है । तो उन्हीं प्रमाणों की चर्चा चल रही है । बोध करने वाला ज्ञान सम्यक् होता या मिथ्या? सम्यक् होता तब ही तत्त्व का सच्चा बोध हो पाता । तो इनमें जो मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ये ५ ज्ञानविशेष कहे हैं वह सम्यग्ज्ञान के विशेष कहे हैं । इस प्रकरण में ज्ञान का स्वरूप प्रमाण के विवरण में आया इसलिए कहा । यहाँ ज्ञान के इस स्वरूप की बात और है, वह तो घटाना है सब जीवों में । और सम्यग्ज्ञान की बात और है । तो इस प्रकार सम्यक् अधिकार में इन ५ ज्ञानों का स्वरूप बताया है ।

मति श्रुत आदि ज्ञानविशेषों का निरुक्ति से अर्थ का परिचय—यह ९ वां सूत्र आज पूर्ण किया जा रहा है । इस सूत्र में कुछ थोड़ा स्मरण करने के लिए यह ध्यान में लाये कि इस सूत्र में क्या-क्या बात और क्या शिक्षा दी गई है? देखो सर्वप्रथम यह बतलाया कि मति श्रुत अवधि मनःपर्यय केवल—इन ज्ञानों का जो स्वरूप नहीं कहा गया, सूत्रजी में किसी जगह आया क्या? निमित्त बता दिया, भेद बता दिया, विषय बता दिया । मगर ज्ञान के स्वरूप को कहने वाला एक भी सूत्र नहीं है, ऐसा क्यों? ऐसा यों किया कि जो शब्द हैं उन्हीं शब्दों से इसका अर्थ क्या ज्ञान हो जाता है? सो ज्ञान का अर्थ बताया ही गया था । मानने का नाम मति, जो प्रथम ही प्रथम ज्ञान में आये सो मति । और सुनकर जाने सो श्रुत । उसे बताया उपलक्षण । सुनकर जाना विशेष सो श्रुत । और देखकर जानकर ज्ञान बढ़ाया सो श्रुत । ५ इन्द्रिय और मन से ज्ञान करके जो और विशेष ज्ञान किया गया सो श्रुत । और म्यादपूर्वक प्रत्यक्ष से जाना गया सो अवधि । अवधिज्ञान नीचे की बात को ऊपर जानता है, यह अवधिज्ञान की खास विशेषता है, इसी कारण इसका नाम अवधि पड़ा । मनःपर्ययज्ञान, दूसरे के मन की पर्याय को जान लेना, मायने उसमें क्या बात सोची जा रही है उस पदार्थ को जान लेना सो मनःपर्यय । और एक समभाव मात्र सिर्फ प्योर ज्ञान ही जान रहे, जो कि अपनी कला के कारण सारे लोकालोक त्रिकाल को जान जाये वह केवलज्ञान है । तो सर्व निरुक्तियों से प्रथम-प्रथम इनके लक्षण का वर्णन किया ।

ज्ञानसामान्य का ज्ञानविशेषों में अन्वय तथा सामान्य विशेष की एकत्र अविरुद्धता—इस सूत्र की रचना में जाहिर होता है कि ज्ञान का अन्वय सबमें करना। कहीं यह न समझना कि ५ ज्ञानों का समूह मिलकर ज्ञान कहलायेगा। मतिज्ञान भी ज्ञान है, श्रुतज्ञान भी ज्ञान है, अवधिज्ञान भी ज्ञान है, मनःपर्ययज्ञान भी ज्ञान है और केवलज्ञान भी ज्ञान है। ये ५ पर्यायें हैं भिन्न-भिन्न समयों में, अपने समय में एक दूसरे की अपेक्षा न रखकर स्वतंत्र पर्याय हैं। तो ज्ञान ये पांचों ही अपने आप में सम्यक्त्व को लिए हुए हैं। यह सब बात सुनकर एक सामान्य विशेष की याद आ जाती है कि वह ज्ञान तो सामान्य है जो इन पांचों के साथ लगा है। मतिज्ञान भी ज्ञान है, श्रुतज्ञान भी ज्ञान है। जो इन पांचों के साथ लगा वह ज्ञान तो है सामान्य और ये ५ हैं विशेष। तो सामान्य और विशेष तो जुदी-जुदी बात हैं। ये लग कैसे गए एक जगह? तो उसका उत्तर दिया है कि सामान्य जुदा नहीं, विशेष जुदा नहीं, किन्तु बात एक है। उसे सामान्यरूप से देखें तो सामान्य मिलेगा, ज्ञान को विशेषरूप से देखें तो विशेष मिलेगा ज्ञान में। पदार्थ में सामान्य और विशेष अविरुद्ध रूप से शाश्वत रहा करते हैं। और देखो सामान्य मायने स्वभाव और विशेष मायने पर्याय। सिद्ध भगवान हो गए, मगर वहाँ भी स्वभाव और पर्याय दो तथ्य हैं कि नहीं? अवश्य हैं। तो कहीं भी हो, किसी भी जगह हो, कुछ भी हो जाये, सिद्ध हो जाये, सामान्यविशेषात्मकता को पदार्थ छोड़ नहीं सकता। यह कितनी एक प्राकृतिक बात है कि वह विशेष को गौण कर दे और सामान्य को मुख्य करे और उसमें अपना अनुभव बनाये, ऐसे समय में भी पर्याय छूटा नहीं, विशेष छूटा नहीं, पर उसका उपयोग विशेष नहीं है सामान्य है अथवा मात्र सामान्य नहीं, सामान्यविशेषात्मक आत्मतत्त्व का सामान्यतया अवगम हो रहा है। तो निर्णय करें तो निष्पक्ष निर्णय करें, प्रमाण से निर्णय करें प्रत्येक पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है और वे दोनों तत्त्व पदार्थ में अविरोधरूप से रहते हैं।

सूत्र में दोनों पदों का अवधारण तथा मति भूत में विशेषता का कथन—सूत्र में यह दिख रहा कि यहाँ पद दो हैं और दोनों पदों में एव लगेगा, याने मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान ही ज्ञान हैं। यह ही लो, इसके मायने यह ही ज्ञान है—कुमति, कुश्रुत, कुअवधि ये ज्ञान नहीं, क्योंकि उनके द्वारा तत्त्वों का, रत्नत्रय का बोध नहीं होता। अब दूसरी जगह एव लगायें तो मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान ज्ञान ही है, अज्ञान नहीं हैं। लो ज्ञान की अचेतनता की आरेका रख के आज के प्रसंग में शब्द काम आ गया। इस शंका में कि जो आज की जा रही है। सांख्य मान रहे थे कि ज्ञान प्रकृति का धर्म है चेतन का नहीं है। सो यहाँ स्पष्ट हो गया कि ये अज्ञान नहीं, वह अचेतन का धर्म नहीं है। तो दोनों ओर से एकार लगाने की बात कही। फिर यह बात बतलायी कि प्रतिज्ञान कह तो दिया, पर मति के कहने से स्मृति प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान ये सब साथ लगे समझना कि यह सब मतिज्ञान है। स्मृति आदिक ज्ञान भी प्रमाण है और मतिज्ञान के ही अनर्थान्तर है। देखो संक्षेप में बात चल रही है, जो १३ दिन प्रवचन चला इस सूत्र पर उसकी बात संक्षेप में उपसंहारात्मक कथन है। आकुलता न करें। जो सुना है उसका एक सामान्य दिग्दर्शन कराया जा रहा है, फिर बताया गया कि मति और श्रुत इनको एक न समझना। शङ्काकार चाहता था कि ज्ञान के चार नाम रह जायें, मति, श्रुत में से एक कह दें, बाकी और तीन कह दें, उनको कहा गया कि मति और श्रुत में भेद है, और जिन बातों से मति श्रुत में शङ्काकार एकत्व सिद्ध करना चाहता था उन्हीं बातों से मति और श्रुत में भेद सिद्ध होता है। जैसे

मति श्रुत सहचर है, साथ रहते हैं, इसीलिए तो जाना है आदिक हेतुवों से मति श्रुत का नानापन सिद्ध किया गया और विषय देखें तो मति का विषय तो थोड़ा है और श्रुत का विषय केवलज्ञान बराबर है। फर्क इतना है कि केवलज्ञान तो प्रत्यक्ष जानता और श्रुतज्ञान परोक्ष जानता। देखो एक निगाह में डाल लो। जगत में जहां जो चीज़ पड़ी वह सब पुद्गल है। बोलो तुमने जगत की सारी चीजों को जान लिया कि नहीं? जान तो लिया। अब प्रयोजन इसका कुछ नहीं, व्यग्रता कुछ नहीं कि चलो जाकर देखें तो सही और अपने काम में लें। एक बार हम अब से करीब ३० साल पहले यात्रा में गए जैनब्री तो गुरुजी ने कहा कि देखो मैसूर के पास कृष्णासागर है उसे जरूर देख आना। गुरु जी का यह भाव था कि इनके मन में यह न रहे कि हमने देख नहीं पाया, पर हम सोच रहे थे कि उसे क्या देखना, वहाँ बस ईंट पत्थर होंगे, पानी होगा, पिण्ड होगा, पृथ्वी होगी, बिजली जलती होगी, सब पौदगलिक चीजें होंगी, उन सबको हमने यों ही जान लिया। जब कुछ प्रयोजन नहीं तो उनको अलग-अलग जानने की क्या जरूरत? श्रुतज्ञान का बहुत बड़ा विषय है।

ज्ञान की स्वसंवेदिता, चेतनता और ज्ञानप्रकर्ष की उपादेयता—इस प्रसंग में एक शङ्का आयी मीमांसकों की ओर से कि जिस ज्ञान से जानते हैं वह ज्ञान अपने को नहीं जान पाता, आत्मा के तो जान जाता है, पर खुद को नहीं जानता। इस विषय में अभी एक दो दिन पहले काफी वर्णन हो चुका है। किसी का भी ज्ञान अज्ञात होकर पदार्थ को नहीं जना सकता है, जैसे कि कोई भी रोशनी खुद बिना प्रकाशित हुए दूसरे पदार्थ को प्रकाशित नहीं करा सकती। ज्ञान खुद जाना जाता है जैसे कि आत्मा समझा जाता उसी प्रकार ज्ञान भी स्पष्ट रहता है। फिर वर्णन आयेगा कि ज्ञान अचेतन है। यह आज ही वर्णन चल रहा और प्रतीति से देखें, युक्ति से देखें, अनुभव से देखें, ज्ञान चेतनात्मक है। इस प्रकार इस सूत्र में जो ५ ज्ञानविशेषों का वर्णन किया गया वह सब सम्यग्ज्ञान है। अब ज्ञान की बात देखें तो जघन्य ज्ञान तो है उस निगोदिया जीव के, जो बहुत काल से निगोदी बन रहा और मरकर किसी दूसरी जगह पैदा होता है निगोद में ही और उसको मोड़ा लेकर जाना है तो पहले मोड़ में जब वह है तो वहाँ उसके जघन्य ज्ञान हैं। बाकी तो सबके उससे अधिक-अधिक ज्ञान है। और यह ज्ञान बढ़-बढ़कर केवलज्ञान की प्रकर्षता को प्राप्त कर लेता है। तो इस सूत्र के अन्त में केवलज्ञान की बात कही। उससे यह भाव लें कि केवलज्ञान ही हमारे लिए एक अन्तिम चीज़ है। वह प्राप्त हो तो सर्व संकट इसके दूर हों। इस सूत्र में प्रमाण के विशेषण का सामान्य और विशेष रूप में निर्देश करके अब उन ज्ञानविशेषों में प्रमाणत्व का समर्थन करते हैं—